जैन भारती

वर्ष 55 • अंक 2 • फरवरी, 2007

हार्दिक मंगल कामना

एक शुभ चिन्तक

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 55 • फरवरी, 2007 • अंक 2

प्रसंग

7
शुभू पटवा
साहस और सहिष्णुता

विमर्श

11
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
कर्म, अकर्म और ध्यान

15
साध्वी शुभ्रयशा
ज्ञान : आत्मा का अक्षर आलोक

22
डॉ. संतोष आचार्य
आसक्ति भाव : सांसारिक बंध और असद् आचार

अनुभूति

31
विद्यानिवास मिश्र
सत्य अनुसंधित्सा

33
निहालचंद जैन
समाधिमरण : जीवन-मृत्यु से अनासक्ति

38
मुनि किशनलाल
आभामंडल का विकास : कुछ सूत्र

41
कहानी
मनोजदास
भाई

46
कविता
नन्दकिशोर आचार्य की कविताएं

शीलन

49
डॉ. बच्छराज दूगड़
ज्ञान : इंद्रियों के बिना भी संभव

52
मुनि राकेशकुमार
स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति

55
बालकथा
सत्येंद्र शरत्
मंत्री-पुत्र की समझदारी

•
आवरण
अडिग

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

दिल दहल उठते हैं

किसी ने कहा—भीखणजी! जहां तुम जाते हो, वहां लोगों के दिल दहल जाते हैं।

तब स्वामीजी बोले——'गांव में मंत्रवादी आता है। वह कहता है—'सवेरे डायनों को गीले कांटों में जलाऊंगा।' तब डायनों के दिल दहल उठते हैं और उनके ज्ञातिजनों में भी आतंक छा जाता है, पर दूसरे लोग तो राजी होते हैं।

इसी प्रकार साधु जब गांव में आते हैं, तब जो वेषधारी और शिथिलाचारी होते हैं, उनके दिल दहल जाते हैं अथवा उनके श्रावक कांप उठते हैं। किंतु जो धर्म प्रेमी होते हैं, वे तो बहुत राजी होते हैं। वे सोचते हैं—'व्याख्यान सुनेंगे, सुपात्र दान देंगे, ज्ञान सीखेंगे, साधुओं की सेवा करेंगे'—इस प्रकार वे प्रसन्न होते हैं।'

पीला ही पीला दिखाई देता है

स्वामीजी से चर्चा करते समय कोई अंट-संट बोला—तुम्हारी श्रद्धा कपटपूर्ण है। आचार में बहुत प्रपंच है।

तब स्वामीजी बोले—हमारी मान्यता और आचार तो अच्छा है, पर तुम्हें ऐसा ही दिखाई देता है। अपनी आंखों में पीलिया होता है तब सब मनुष्य उसे पीले-पीले दिखाई देते हैं। वह लोगों से कहता है—आजकल गांव में पीलापन बहुत हो गया है। सब मनुष्य पीले ही पीले दिखाई देते हैं।

तब लोग बोले—मनुष्य तो सब अच्छे हैं, सुंदर हैं। तुम्हारी आंख में पीलिया का रोग है, इसलिए तुम्हें सब पीले दिखाई देते हैं।

इस प्रकार मान्यता तो कपटपूर्ण अपनी है और स्वयं गुरु के अयोग्य हैं। यह बात दिखाई नहीं देती और साधुओं को अयोग्य बतलाता है और उनकी मान्यता को कपटपूर्ण कहता है। •

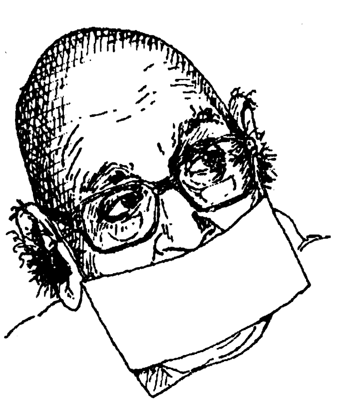

क्रोधी मनुष्य को सत्यासत्य का विवेक नहीं रहता। ऐसी स्थिति में वह प्रायः झूठ बोलता है। असत्य बोलने का बड़ा कारण भय है। व्यक्ति गलत कार्य कर लेता है, पर उसे स्वीकार करने का साहस नहीं जुटा पाता। यदि सही-सही बता दिया तो जाने क्या होगा, लोग क्या समझेंगे—यह आशंका या भय उसे न चाहते हुए भी झूठ बोलने को प्रेरित करता है। जबकि वास्तविकता यह है कि गलत कार्य करने वाला और उसे स्वीकार न करने वाला सदा कायर होता है। दूसरी ओर साहस के साथ स्वीकार करना और अपने किए पर प्रायश्चित करने वाला वीर माना जाता है। दुर्भाग्य से लोग मानने लगे हैं कि निडर होकर गलत कार्य करना, फिर किसी भी स्थिति में उसे स्वीकार न करना, क्षमा न मांगना, प्रायश्चित न करना वीरता है और गलती को सहर्ष स्वीकार कर क्षमा मांगने वाला, प्रायश्चित करने वाला कायर होता है। यह वृत्ति व्यक्ति के विकास में बहुत बड़ी बाधा है। अपनी भूल या प्रमाद को स्वीकार करने में भय खाना उचित नहीं है। हिम्मत जुटा कर ऋजुता के साथ स्वीकार कर लेना और उसका प्रायश्चित कर लेना ही वीरता है।

हम देखते हैं कि क्षुद्र लोभ के लिए असत्य बोलना बहुत सामान्य-सी बात हो गई है। बिना किसी खास प्रयोजन के भी आदमी झूठ बोल देता है। सत्य के साधक को इससे बचना चाहिए, सलक्ष्य बचना चाहिए।

—आचार्यश्री तुलसी

राजनीति का सूत्र है—'दुष्टस्य दंडे सुजनस्य पूजा'—अर्थात् दुष्ट आदमी को दंडित किया जाना चाहिए और सज्जन का सम्मान होना चाहिए। जबकि अध्यात्म नीति में व्यक्ति स्वयं पर केंद्रित रहता है। वह अपनी ही दुष्टता और सज्जनता पर विचार करता है। शठ व्यक्ति के साथ शठता का व्यवहार करो—यह राजनीति का सूत्र हो सकता है, सामान्य आदमी के जीवन का सिद्धांत भी बन सकता है, किंतु जिसको आत्म-साधना करनी है, उस साधना में जिसे आगे बढ़ना है, वहां सूत्र होगा—'शत्रु के साथ भी मित्रता का व्यवहार करो।'

शत्रु कौन होता है? आगम में बताया गया—'अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ'—दुष्प्रवृत्त आत्मा ही शत्रु है और सत्प्रवृत्त आत्मा ही मित्र है। जो व्यक्ति प्रतिकूल व्यवहार करता है, अभद्रता का व्यवहार करता है, अहित करने का प्रयास करता है, उसके प्रति भी मित्रता का व्यवहार रखना बहुत बड़ी साधना है। ऐसा व्यवहार कोई महापुरुष ही कर सकता है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

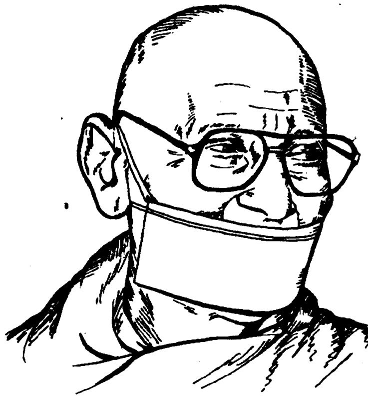

हम इस धारणा को निकाल दें कि जो-कुछ होता है वह सब कर्म से ही होता है। कर्म की ही सार्वभौमता स्वीकार करना मिथ्या दृष्टिकोण है। सच यह है कि सब-कुछ कर्म से नहीं होता। जो घटनाएं कर्म से होने योग्य होती हैं, कर्म की सीमा में आती हैं—वे ही कर्म के द्वारा घटित होती हैं। सब घटनाएं कर्म के द्वारा घटित नहीं होतीं। आज एक ऐसा स्वर चल पड़ा है कि—'भई! क्या करें, ऐसे ही कर्म किए थे, कर्म का ऐसा ही योग था।' हर घटित घटना के लिए, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, अच्छी हो या बुरी—हम यही व्याख्या प्रस्तुत करते हैं कि कर्म के कारण ही ऐसा घटित हुआ है, कर्म का प्रताप है, प्रभाव है, अन्यथा ऐसा नहीं होता। यह भ्रांति है, बहुत बड़ा भ्रम है। हम किसी के हाथ में एकाधिकार न सौंपें। प्रकृति के साम्राज्य में अधिनायकवाद नहीं है। जागतिक नियम में कोई अधिनायक नहीं होता, कोई अधिनियन्ता नहीं होता। वहां किसी को एकाधिकार प्राप्त नहीं है। कुछ शक्तियां काल में निहित हैं, कुछ स्वभाव में, कुछ परिस्थिति में और कुछ कर्म में। कुछ शक्तियां हमारे अपने पुरुषार्थ में निहित हैं।

इस पुरुषार्थ में कर्म को बदल देने की शक्ति होती है। हमारी शक्ति का प्रतीक है—पुरुषार्थ। हमारी क्षमता का प्रतीक है—पुरुषार्थ। हम इसके द्वारा कर्म को भी बदल डालते हैं। कर्मशास्त्र का यह भी एक नियम है कि कर्मों को बदला जा सकता है। एकाधिकार किसी को प्राप्त नहीं है। यहां सब का मिला-जुला अधिकार है। एकाधिकार नहीं है, बंटे हुए हैं—सारे अधिकार।

यदि कर्म ही सब-कुछ होता, कर्म को ही एकाधिकार प्राप्त होता तो कोई भी प्राणी अव्यवहार-राशि से व्यवहार-राशि में नहीं आता, अविकसित प्राणियों की श्रेणी से विकसित प्राणियों की श्रेणी में नहीं आता। यदि कर्म ही सब-कुछ होता तो साधना की अयोग्य स्थिति से या अपनी अविकसित चैतन्य की भूमिका से आध्यात्मिक चेतना की विकसित भूमिका में नहीं आता। यदि कर्म ही सब-कुछ होता तो प्राणी बंधन को तोड़ कर कभी मुक्त नहीं होता। कर्म ही सब-कुछ नहीं है। कर्म के अतिरिक्त भी अनेक तथ्य हैं, जो अपनी-अपनी सीमा में कार्यकारी होते हैं।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

साहस और सहिष्णुता

साहस को जीवन का गुण तभी माना जा सकता है जब उसके साथ सहिष्णुता का तत्त्व पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रहे—ठीक उसी तरह कि सत्य के साथ यदि शालीनता न रहे, तो वह असह्य हो सकता है। कहा जाता है कि साहसी आदमी के लिए दुर्लंघ्य कुछ नहीं होता, पर सामान्य जीवन-व्यवहार में व्यक्ति को इतना सहिष्णु होना जरूरी होता है कि किसी असहमति पर भी उत्तेजित न हुआ जाए। इस तरह यह माना जाना चाहिए कि साहस के लिए शरीर-बल ही पर्याप्त नहीं होता, मानसिक तौर पर परिपुष्ट होना भी जरूरी होता है। कहना चाहिए कि सहिष्णुता के लिए मानसिक सुघड़ता जरूरी है। इस तरह यह माना जा सकता है कि सुघड़ मानवता के लिए साहस और सहिष्णुता एक प्रमुख आधार के रूप में सन्निहित है।

आज समाज में जितने प्रकार की हिंसाएं व्याप्त हैं, वे सभी सहिष्णुता के अभाव का प्रतिफल हैं। शारीरिक रूप से एक कमजोर व्यक्ति भी हिंसक हो सकता है, यदि वह सहिष्णु नहीं है और एक बलशाली आदमी किंचित भी उत्तेजित नहीं होगा, यदि उसमें सहिष्णुता का तत्त्व मौजूद है। एक तरह से यह एक मनोग्रंथि है और यह पटरी पर बनी रहे, इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने चित्त का आत्म-निरीक्षण करता रहे। जो कुछ कचरा है, वह बराबर बाहर निकलता रहे तथा जो सार-तत्त्व है, वह निरंतर विकसित होता रहे—ऐसे उपक्रम होते रहने चाहिए।

लेकिन ऐसा होना सरल नहीं है। इसके लिए सतत सचेत रहने की जरूरत है। हमारा दैनंदिन जिस तरह स्वतःस्फूर्त होता है—जैसे कि सवेरा होते ही हम अपने दैनिक कर्म शुरू कर देते हैं। कोई इसकी याद दिलाए, यह जरूरी नहीं होता। ठीक उसी तरह हम अपने व्यवहार में भी स्वतः सचेत रह सकें, कि किसी को इसकी याद न दिलानी पड़े—तभी यह संभव हो सकता है कि हम सहिष्णु बने रह सकें। ऐसा हो सके, इसके लिए मानसिक प्रशिक्षण की आवश्यकता से इनकार नहीं किया जा सकता है। बल्कि अब तो इसकी दरकार भी महसूस होने लगी है और अनेक रूपों में ऐसे मनोप्रशिक्षण अब प्रचलन में भी देखे जा सकते हैं। यहां हमें प्रशिक्षण की भूमिका को भी समझ लेना जरूरी है। किसी भी तरह का प्रशिक्षण हमारे लिए सहायक ही हो सकता है, जबकि मूलतः तो हमारे स्वभाव की भूमिका ही इसमें देखी जाएगी। यदि

स्वभाव में सहिष्णुता के लिए जगह है, तब प्रशिक्षण से वह परिपुष्ट हो सकता है। अतः बुनियादी तौर पर सहिष्णुता का तत्त्व हमारे जेहन में होना जरूरी है।

अकसर मनुष्य को विकृतियों का पुतला ही कहा जाता है। पर, मनुष्य को विकृतियों का पुतला-भर मानना क्या नकारात्मक सोच नहीं है? बुराई और अच्छाई साथ-साथ चलने वाली क्रियाएं हैं। बुराई पर पूरी तरह नियंत्रण रहे और अच्छाई सिर चढ़ कर बोले—ऐसा नकचढ़ापन भी किस काम का! ऐसा होने से क्या दूसरे प्रकार का बेमेलपन नहीं बढ़ेगा? बुराई पूरी तरह नियंत्रित रहे, उसी तरह यह भी जरूरी है कि 'अच्छाई की सहिष्णुता' भी प्रकट हो। तात्पर्य यह कि जिन्हें हम अच्छा मानते हैं, वे इतने अहंकारग्रस्त न हों कि कोई उनसे चोटिल हुआ महसूस करे। 'अच्छाई की सहिष्णुता' का यही मानी है।

यह माना जाता है कि आदमी मूलतः वासनाओं का केंद्र है। आचार्य विनोबा भावे के कथनानुसार शास्त्रकारों ने तीन प्रकार की वासनाएं या एषणाएं बताई हैं। इनमें एक है—पुत्र-वासना। विनोबाजी कहते हैं—'इसे खराब तो मानते ही नहीं, उसके लिए शादियां भी करते हैं। इस तरह पुत्र-वासना अच्छी मानी गई। लेकिन, उसके तृप्त होने के बाद काम-वासना होती है, तो वह अच्छी नहीं। पुत्र-वासना ही न हो, यह बड़ी बात है। लेकिन, हो जाए और शादी करके उसकी पूर्ति की जाए तो वह खराब भी नहीं।' विनोबा का यह कथन वर्तमान समय में काफी अर्थवान है। आज 'एड्स' जैसी बीमारी से हमारी 'आधुनिकता' संत्रस्त है। यह अनियंत्रित काम-वासना का प्रतिफल है। यह विकृति है और इस पर नियंत्रण की जरूरत है। जिन उपकरणों का सहारा लेकर इसे नियंत्रित किया जाने लगा है—क्या यह 'एड्स' पर नियंत्रण है? यह नियंत्रण इसके दुष्परिणामों पर है, 'एडस' पर नहीं। परिस्थितियां हमें विवश कर रही हैं कि हम सोचें।

इसी तरह विनोबा वित्त-वासना की बात भी कहते हैं। एक हद तक वे इसे भी उचित मानते हैं और यदि वह दूसरे के विरुद्ध जाए तो खराब मानते हैं। हम देखते ही हैं कि भौतिक संसाधनों की लालसाओं को अलग-अलग माध्यमों से जगाना और विलासिता-भरे जीवन की चमक को महिमामंडित कर वित्तैषणा को पूरा करने की सब ओर होड़ मची है। इस होड़ ने अनेक रूपों में विषमताएं पैदा की हैं। जिस हद तक 'वित्त-वासना' को उचित कहा जा सकता है, वह हद समर्थ लोग उलांघ चुके हैं। यह खराब है और समाज इसे भुगत रहा है—यह हम देख रहे हैं। हम इस पर भी सोचें।

ठीक इसी तरह विनोबा प्रतिष्ठा को भी वासना की श्रेणी में रखते हैं और कहते हैं कि यह अच्छी है, पर तभी तक कि उससे अच्छे कामों के लिए प्रेरणा मिलती रहे।

इस 'प्रसंग' में जहां से बात शुरू की, हम वहीं पर आते हैं। प्रकारांतर से ये सभी बिंदु व्यक्ति की क्षमता के अंग हैं और इन्हीं के बल पर किसी में साहस के बीज का वपन होता है। वृक्ष या लता के रूप में यह बीज तभी फलदायी संभव हो सकता है, जब किसी भी स्तर पर अतिक्रमण नहीं हो। अतिक्रमण से बचने का सहज उपाय सहिष्णुता के तत्त्व का उपस्थित रहना है। अतः एक सुघड़ समाज-संरचना के लिए साहस और सहिष्णुता का संपुट अनिवार्य है।

साहस और सहिष्णुता सामान्यतः नैसर्गिक गुण हैं। ये तत्त्व हर किसी में होते हैं, पर इनका विकास सभी में समान रूप से हो—यह जरूरी नहीं है। इसीलिए हम मानते हैं कि इसके लिए अपेक्षित प्रशिक्षण की आवश्यकता है। ऐसे प्रशिक्षण के लिए सर्वाधिक सही समय है—बचपन। इसी तरह सर्वाधिक सक्षम प्रशिक्षण केंद्र हो सकते हैं—विद्यालय। अपना घर-आंगन इसका पहला प्रशिक्षण केंद्र है। वर्जनाओं से मुक्त घर-आंगन, किसी भी बचपन के लिए ऐसे प्रशिक्षण का सफल स्थल हो सकता है। देखना सिर्फ इतना होता है कि उस बचपन में से प्रस्फुट हो रही सृजनात्मकता अवरुद्ध न हो और न विकृत। मां अथवा अभिभावक तो इसके पहले प्रेक्षक होते ही हैं, पर बचपन की देहरी को पार करते ही जो विद्यालय मिले, वहां भी वर्जनामुक्त वातावरण हो और सहज सृजन का अवकाश रहे।

शिक्षा के क्षेत्र में विचारशील पुरोहितों के लिए यह विचारणीय मुद्दा है कि साहसी और सहिष्णु समाज-संरचना की आधारभित्ति को सुदृढ़ बनाने की दिशा में अब ऐसे नवाचार सामने आएं।

—शुभू पटवा

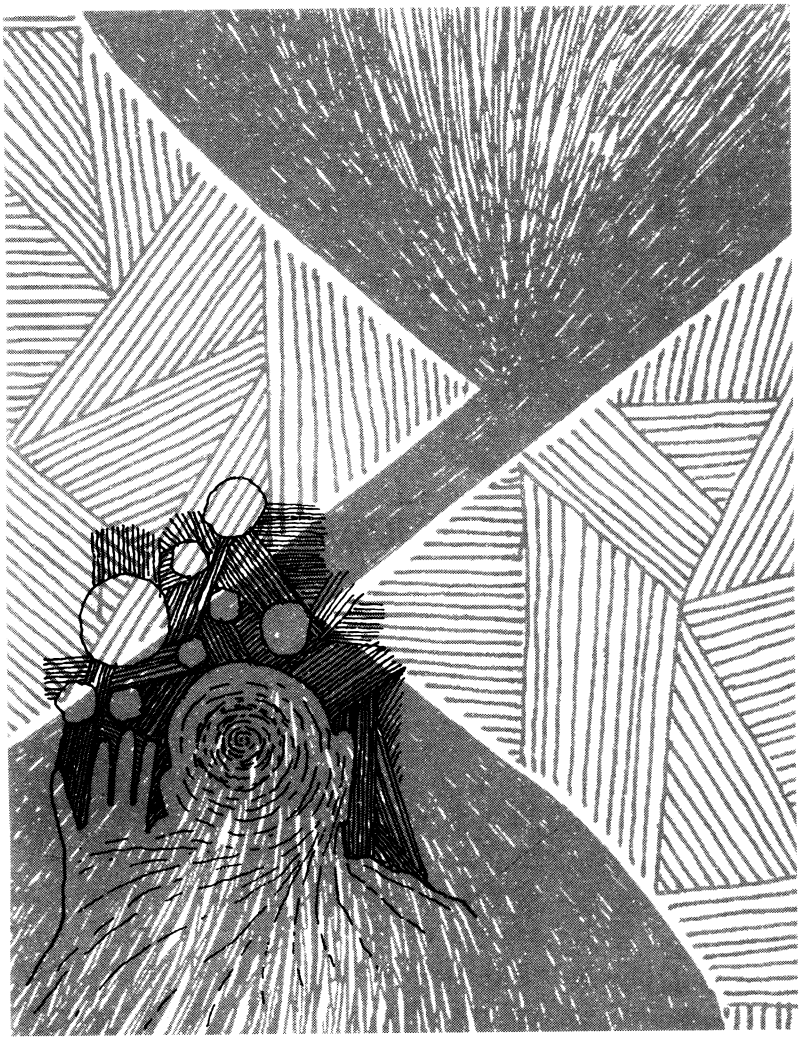

विमर्श

न्याय तथा विज्ञान में, दर्शन तथा धर्म में प्राकृतिक संबंध है। विचारों की उन्नति का प्रत्येक नूतन युग न्याय के सुधार से ही प्रारंभ होता है। पद्धति की समस्या का विशेष मूल्य है क्योंकि इसमें मानव-विचारों की प्रकृति का खास ज्ञान सन्निहित है। न्याय-दर्शन हमें यह बताता है कि कोई भी चिरस्थाई दर्शन बिना तर्कशास्त्र के आधार के नहीं बन सकता। वैशेषिक चेतावनी देता है कि प्रत्येक सफल दर्शन के लिए भौतिक प्रकृति की रचना-प्रणाली का ज्ञान नितांत अपेक्षित है। हम हवाई किला नहीं बना सकते। यद्यपि दर्शन तथा भौतिक विज्ञान दो भिन्न-भिन्न शास्त्र हैं, जो कभी एक नहीं हो सकते, फिर भी दार्शनिक योजना को प्रकृति-विज्ञान के निष्कर्षों से सामंजस्यता रखनी होगी। किंतु जो बातें भौतिक जगत के संबंध में सत्य हैं, उन्हें यदि हम अधिक व्यापक मान कर संपूर्ण विश्व पर आरोपित कर दें तो हम वैज्ञानिक दर्शन का प्रचार करने के दोषी ठहराए जाएंगे। सांख्य-शास्त्र इस खतरे से बचने के लिए हमें सावधान करता है। प्रकृति की समस्त शक्तियां चेतना के उत्पादन में असमर्थ हैं। वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दार्शनिक की भांति प्रकृति अथवा चेतनता को हम एक-दूसरे के रूप से परिवर्तित नहीं कर सकते। सत्य का दर्शन हमें विज्ञान तथा मानव-जीवन में ही नहीं मिलता वरन् धार्मिक अनुभूति में भी मिलता है और यह अनुभूति ही योग-दर्शन का विषय है।

—डॉ. एस. राधाकृष्णन

अकर्म का अर्थ कर्म न करना नहीं है। ज्ञाता-द्रष्टा बनने का अर्थ कर्म से पलायन नहीं है। ज्ञाता-द्रष्टा बनने से भूख मिट जाएगी, प्यास बुझ जाएगी, अर्थ मिल जाएगा—ऐसा नहीं होता। आदमी कर्म को छोड़ नहीं सकता, पर उसके दोषों को मिटाया जा सकता है। कर्म को नहीं मिटाना है, उसके दोषों को समाप्त करना है। जब तक शरीर है, तब तक कर्म रहेगा। कोई भी शरीरधारी सभी कर्मों को छोड़ नहीं सकता। शरीर और जीवन की आवश्यकता है, तब तक कर्म तो रहेगा ही। आदमी कर्म को नहीं छोड़ सकता, पर कर्म को अकर्म बना सकता है। कर्म उस व्यक्ति का होता है, जिसके साथ आसक्ति है, लेप है, तीव्र राग-द्वेष का अध्यवसाय है। इसके बरक्स उस व्यक्ति का कर्म अकर्म होता है, जिसमें प्रिय-अप्रिय संवेदन कम होते हैं, आसक्ति और लिप्तता कम होती है।

कर्म, अकर्म और ध्यान

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

आदमी निरंतर कर्म करना चाहता है, पर वह निरंतर कर्म कर नहीं पाता। यह कभी नहीं चाहा जाता कि कोई व्यक्ति कर्म को छोड़ कर अकर्म की दिशा में प्रस्थान करे। कर्म से प्रेम है और अकर्म से डर लगता है। न वह स्वयं अकर्म चाहता है और यदि कोई अकर्म होता है, तो उसे होने नहीं देता। वह चाहता है कि सभी कर्म से बंधे रहें। पता नहीं, यह प्रवृत्ति कब पैदा हुई? क्यों हुई? और कैसे हुई? इसीलिए बहुत-से लोग संन्यास को, ध्यान और त्याग को पलायनवादी प्रवृत्ति मान बैठे हैं।

हम इस विषय में विमर्श करें कि क्या ध्यान पलायन है? यदि पलायन है तो वह सामाजिक व्यक्ति को मान्य नहीं हो सकता।

यह समाज अनेक संघर्षों और समस्याओं से भरा हुआ है। प्रश्न है कि समस्याएं क्यों उत्पन्न होती हैं? जहां कर्म होगा, जहां संघर्षण होगा—वहां समस्याएं होंगी। इसे टाला नहीं जा सकता।

तब प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या समाज और व्यक्ति को निरंतर समस्याओं में ही जीना है? क्या ऐसा कोई उपाय भी है कि जिससे समाज और व्यक्ति शांतिपूर्ण जीवन जी सकें? मैं श्मशान की शांति की बात नहीं कर रहा, मैं मानसिक तनाव से मुक्त होकर सौहार्दपूर्ण, मैत्रीपूर्ण जीवन की बात कर रहा हूं। तब प्रतिप्रश्न होता है कि क्या यह संभव है? मेरा मानना है कि हां, यह संभव है। यह तभी संभव है, जब कर्म की पृष्ठभूमि में अकर्म बना रहे। ज्ञान की पृष्ठभूमि में ध्यान बना रहे। कोरा ज्ञान अनेक खतरे पैदा करता है, पर जब ज्ञान के साथ ध्यान रहता है तो सारे खतरे टल जाते हैं।

कोई भी कर्म, अकर्म के बिना चल नहीं सकता। हम मानते हैं कि हृदय धड़कता है, इसलिए आदमी जीता है। यह एक सचाई है। पर, इसके साथ यह भी बड़ी सचाई है कि हृदय नहीं धड़कता। हृदय धड़कता है, विश्राम लेता है, फिर धड़कता है, फिर विश्राम करता है—इसीलिए माना जा सकता है कि धड़कता है। यदि हृदय विश्राम न करे, निरंतर धड़कता रहे तो वह टूट जाएगा। हृदय इसीलिए नहीं टूटता कि वह धड़कता है और विश्राम भी लेता है। विश्राम और श्रम—दोनों साथ-साथ चलते हैं। इसी प्रकार कर्म और अकर्म—दोमों साथ-साथ चलते हैं। अकर्म न हो तो कर्म चल नहीं सकता। एक आदमी सोचता है और यदि वह निरंतर

सोचता ही रहे तो अधिक दिनों तक सोच नहीं सकता। वह सोच नहीं सकेगा, अपितु अतियोग हो जाएगा। अतियोग का अर्थ है—समाप्ति। एक आदमी पैदल चलना प्रारंभ करे, वह कुछ दिनों तक चल सकता है। पर, लंबे दिनों तक चल नहीं पाएगा। थक जाएगा, बैठ जाएगा। इसीलिए प्रत्येक क्रिया के साथ अक्रिया का योग होना चाहिए। क्रिया और अक्रिया, कर्म और अकर्म, प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन युगलों का योग होता है। क्रिया तभी अच्छी होती है, तभी कर्म अच्छा होता है और प्रवृत्ति भी अच्छी होती है। हम इस सचाई को नहीं भूलें कि ध्यान करना जीवन से पलायन करना नहीं है, प्रवृत्ति से हट जाना नहीं है, अपितु प्रवृत्ति के दोषों को समाप्त करना है। प्रवृत्ति और कर्म में आने वाली मलिनताएं, दोष, भ्रांतियां, समस्याएं—ये सब ध्यान के द्वारा दूर हो सकती हैं। यह बात समझ में आ जाए तो ध्यान पलायनवाद है—इसका निरसन हो सकता है। इसीलिए प्रेक्षा-ध्यान को अकर्म का प्रयोग कहा जा सकता है। हमारी क्रिया के साथ तीन बातें जुड़ी हैं—(1) मैं जानता हूं, (2) मैं करता हूं, (3) मैं भोगता हूं।

पहली बात है—मैं जानता हूं। प्रश्न है कि क्या जानें? कुछ भी जानें, ज्ञान में कोई प्रतिबंध नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ ज्ञेय है। ज्ञेय सब-कुछ है, चाहे अच्छा हो या बुरा हो। ज्ञेय की दृष्टि में न कोई अच्छा होता है और न कोई बुरा होता है। वहां मात्र जानना होता है।

दूसरी बात है—मैं करता हूं। यहां अच्छा और बुरा, आवश्यक और अनावश्यक, उपयोगी और अनुपयोगी जुड़ जाएगा। एक आदमी एक समय में अच्छा काम करता है, आवश्यक और उपयोगी काम करता है। वही आदमी दूसरे समय में बुरा काम करता है, अनावश्यक और अनुपयोगी काम करता है। करने के साथ विभाजन हो जाता है। जबकि ज्ञान के साथ विभाजन नहीं हो सकता।

तीसरी बात है—मैं भोगता हूं। भोगने की बात कर्म में दोष उत्पन्न करती है। क्रिया अपने-आप में दोषपूर्ण नहीं होती। उसमें दोष आता है, भोक्ता की स्थिति से। एक कार्य किया, उसके साथ भाव कैसा रहा? उसके पीछे भोगने की मनःस्थिति क्या रही? भोगने का अर्थ है—अच्छा काम करने पर अहंकार का आ जाना, बुरा काम करने पर निराशा का आ जाना, हीनभावना का आ जाना। आदमी इन सारी वृत्तियों को भोगता है। वह इन वृत्तियों की परिधि में घूम रहा है। आदमी कभी अहंकार को भोगता है, कभी हीनभावना को भोगता है। कभी वह हर्ष का अनुभव करता है और कभी विषाद का अनुभव करता है। कभी वह सुख का अनुभव करता है और कभी दुख का अनुभव करता है। सुख-दुख, हर्ष-विषाद, अहंकार-हीनभावना—इन सारी वृत्तियों के साथ आदमी कार्य को भोगता है। ये सारी वृत्तियां व्यक्ति में उत्पन्न होती हैं। मनुष्य में ही नहीं, प्रत्येक प्राणी में ये वृत्तियां होती हैं।

आशा-निराशा, अहंभाव-हीनभाव—ये सभी भाव प्रत्येक घटना और दृश्य के साथ आते रहते हैं। यह भोक्ताभाव है। भोक्तृता है। ध्यान का प्रयोजन है—ज्ञाताभाव को विकसित करना, भोक्ताभाव को कम करना। जब भोक्ताभाव कम होता है, तब समस्याओं का समाधान होने लगता है। जानो और देखो। जब जानने और देखने की स्थिति पुष्ट होती है, तब भोगने की स्थिति अपने-आप कमजोर हो जाती है। जो आदमी भोगता है, उसकी स्थिति विचित्र बन जाती है। वह हर घटना के साथ तादात्म्य जोड़ लेता है और तब उसमें उसी प्रकार के भाव उभर आते हैं। जब वह रंगमंच के सामने बैठा होता है, अभिनय को देखता है, तब रुदन को देख कर स्वयं रोने लग जाता है, करुण दृश्य को देख कर स्वयं करुण बन जाता है। कभी हंसने लग जाता है और कभी रोने लग जाता है। कभी हीन बनता है और कभी दीन बन जाता है। यह घटना के साथ बह जाने की मनोवृत्ति है। यह कर्म की प्रखर मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति को समाप्त करना, कर्म की मलिनता को समाप्त करना, कर्म को शुद्ध करना—यह है अकर्म।

अकर्म का अर्थ कर्म न करना नहीं है। ज्ञाता-द्रष्टा बनने का अर्थ कर्म से पलायन नहीं है। ज्ञाता-द्रष्टा बनने से भूख मिट जाएगी, प्यास बुझ जाएगी, अर्थ मिल जाएगा—ऐसा नहीं होता। आदमी कर्म को छोड़ नहीं सकता, पर उसके दोषों को मिटाया जा सकता है। कर्म को नहीं मिटाना है, उसके दोषों को समाप्त करना है। जब तक शरीर है, तब तक कर्म रहेगा। कोई भी शरीरधारी सभी कर्मों को छोड़ नहीं सकता। शरीर और जीवन की आवश्यकता है, तब तक कर्म तो रहेगा ही। आदमी कर्म को नहीं छोड़ सकता, पर कर्म को अकर्म बना सकता है।

कर्म उस व्यक्ति का होता है, जिसके साथ आसक्ति है, लेप है, तीव्र राग-द्वेष का अध्यवसाय है। इसके बरक्स उस व्यक्ति का कर्म अकर्म होता है, जिसमें प्रिय-अप्रिय संवेदन कम होते हैं, आसक्ति और लिप्तता कम होती है।

ध्यान का प्रयोजन अकर्म बनाना है। जो व्यक्ति इस सचाई को समझ जाता है, वह पलायनवाद की भाषा में नहीं सोच सकता। वह सोचेगा कि सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए, उन समस्याओं से जूझने के लिए ध्यान बड़ी शक्ति है, अचूक उपाय है। यह शक्ति जब आती है, तब समाज में शुद्धता आती है। सभी अपराध इसीलिए पनपते हैं कि आदमी कर्म को अधिक महत्त्व देता है। चोरी, डकैती, संघर्ष, झगड़े—ये सारे कर्म के परिणाम हैं। इन्हें रोका नहीं जा सकता। एक ओर धर्म को महत्त्व दिया जा रहा है और दूसरी ओर इन सभी अपराधों के रोकथाम की बात सोची जा रही है। ऐसे समाज की कल्पना की जाती है, जिसमें हत्याएं, मारकाट, चोरियां और डकैतियां नहीं हों, अपराध न हों। ये सारे कर्म के परिणाम हैं, स्फुलिंग हैं। कर्म हो और ये न हों, ऐसा कैसे हो सकता है? आग जले और चिनगारियां न हों—ऐसा हो नहीं सकता। जब कर्म की आग जलती है, तब अपराध की चिनगारियों को मिटाया नहीं जा सकता। पर, हम एक व्यवस्था कर सकते हैं। आग को अनुशासित किया जा सकता है। चूल्हा इसीलिए बना कि आग अनियंत्रित न हो, नियंत्रित रहे। आग नियंत्रित रहती है, तभी तक वह उपयोगी होती है। अतः आग को अनुशासित करना आवश्यक है। कर्म को अनुशासित करना जरूरी है। कर्म को अनुशासित करने का उपाय है—अकर्म।

आचार्य उमास्वाति ने कहा—**जगत्कायस्वभावः संवेगवैराग्याभ्याम्**—जगत और शरीर के स्वभाव को जानना बहुत जरूरी है। उसको जानने के दो साधन हैं—संवेग और वैराग्य। यह जानने की प्रक्रिया अनुप्रेक्षा की प्रक्रिया है। जगत और शरीर को जानने का परिणाम होता है—कर्म की शुद्धि। जगत को समझने से संवेग होता है और काया को समझने से वैराग्य उत्पन्न होता है। जो व्यक्ति जगत के स्वरूप और स्थिति को जानता है—वह संवेग से भर जाता है। जो काया की स्थिति और स्वरूप को जान लेता है—वह वैराग्य से भर जाता है। जब वह सूक्ष्म शरीर—कर्म शरीर को देखता है, जब वहां होने वाले प्रकंपनों को जानने लगता है, तब वह समझ जाता है कि अमुक कर्म का अमुक परिणाम हो रहा है। तब मन में विरक्ति पैदा होती है।

जो व्यक्ति कर्म को नहीं जानता, कर्म के स्वभाव को नहीं जानता—वह पदार्थ के आकर्षण से मुक्त नहीं हो सकता। उसमें पदार्थासक्ति बनी रहती है। जो व्यक्ति कर्म के विषय में अनुचिंतन करता है, कर्म की अनुप्रेक्षा करता है—वह कर्मों से बचेगा। परिणाम-प्रेक्षा, विपाक-दर्शन, कर्मबंध की स्थिति और इनका अनुचिंतन वैराग्य उत्पन्न करता है। ऐसा अनुचिंतन करने वाला व्यक्ति अनेक कर्मों से बचने का प्रयत्न करता है। इसलिए आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए कर्म को जानना बहुत आवश्यक है। इतना आवश्यक है, जितना जीने के लिए श्वास आवश्यक है।

कर्म के विषय में जो नहीं जानता, वह अध्यात्म के अर्थ को भी नहीं समझ सकता। अध्यात्मवाद का सबसे महत्त्वपूर्ण संधिस्थल है—कर्म का ज्ञान। प्रत्येक भाव के पीछे कर्म बना हुआ होता है। मन में हिंसा, झूठ, चोरी के भाव आते हैं, बुरे सपने आते हैं—उनमें शारीरिक और रासायनिक, दोनों कारण हैं। उन सबकी जड़ में जो छिपा हुआ कारण है—वह है कर्म। इस कर्म को जान लिया जाता है, तब स्थिति बहुत स्पष्ट हो जाती है। कर्म को समझना अकर्म की दिशा में प्रस्थान करना है।

कर्म के दो रूप हैं—एक भीतर में है, जो परमाणु के रूप में विद्यमान है। एक कर्म, जो प्रवृत्ति के रूप में सामने आ रहा है। जब तक आंतरिक कर्म का शोधन नहीं होता, तब तक व्यावहारिक कर्म का शोधन भी नहीं हो सकता। उसके अभाव में सौहार्द, मैत्री, मृदुता आदि-आदि धर्मों का भी विकास नहीं हो सकता। जिसके मन में भय रहता है कि बुरे कर्म के परिणाम बुरे होते हैं—वह बुरे कर्मों से बच जाता है।

कर्म की सचाई को समझना ध्यान की सचाई को समझना है। अकर्म का महत्त्वपूर्ण पहलू है—देखना, जानना। अकर्म का अर्थ—न करना नहीं है। कोई भी आदमी यथार्थ की समस्याओं से मुक्त नहीं हो सकता। भूख, प्यास आदि शारीरिक समस्याएं हैं और क्रोध, अहंभाव, हीनभाव आदि मानसिक समस्याएं हैं। ये भावात्मक समस्याएं हैं, यथार्थ की समस्याएं हैं। इन

समस्याओं के कारण ही सामाजिक और पारिवारिक जीवन में जटिलताएं आती हैं। इन समस्याओं का समाधान करने के लिए कर्म का दोष मिटाना और अकर्म में जाना, ध्यान करना अत्यंत आवश्यक है। इस बात को हम स्पष्ट समझ लें कि शारीरिक समस्याओं को सुलझाने के लिए ध्यान की उतनी उपयोगिता नहीं है, जितनी उपयोगिता भावात्मक समस्याओं से निपटने के लिए है। काम, क्रोध, भय, प्रमाद, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, कामवासना, प्रिय-अप्रिय भाव—ये भावात्मक समस्याएं आदमी को बहुत सताती हैं। इनका तनाव दीर्घ समय तक बना रहता है। भूख आदि शारीरिक आवश्यकताओं का तनाव दीर्घ समय तक नहीं रहता। इसीलिए काम, क्रोध और वृत्तियां बहुत खतरनाक हैं। ये वृत्तियां ही कर्म में दोष उत्पन्न करती हैं। ध्यान से कर्म में शुद्धता आती है। अतः ध्यान पलायन नहीं है। यह जीवन की सार्थकता है।

अनेकांत को समझने वाला किसी पलायन से नहीं डरता। वह सापेक्षता से अर्थ की मीमांसा करता है। वह जान जाता है कि पलायन अच्छा भी होता है और बुरा भी होता है। ध्यान को कोई पलायन माने तो भले ही माने, पर यह पलायन भी समस्या का समाधान दे सकता है। जब संवेग और वैराग्य की स्थिति बनती है, तब समस्याएं सुलझती हैं।

तीन बातें हैं—कर्म, कर्म और अकर्म। हमारे साथ कर्म का बंधन है और कर्म का यह बंधन नए बंधन को पैदा करता है। बंधन बंधन को जन्म देता है। सजातीय सजातीय को जन्म देता है। कर्म से कर्म का बंधन नहीं टूटता। अकर्म से कर्म का बंधन टूटता है। हमें अकर्म में जाना होगा। कर्म को क्षीण करने का एकमात्र उपाय है—अकर्म।

प्रश्न है कि क्या ध्यान से कर्म का क्षय होता है? यदि होता है, तो ध्यान की बहुत बड़ी सार्थकता है। यदि ध्यान से बंधन टूटता है तो यह उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है। ध्यान से यदि कर्म का क्षय नहीं होता, बंधन नहीं टूटता तो फिर ध्यान का कोई प्रयोजन भी नहीं रहता। एक घंटा ध्यान किया और कुछ ताजगी आ गई, विश्राम मिला, शांति मिली—यह ध्यान का प्रासंगिक फल है, गौण फल है। यदि इतने मात्र से ही संतोष कर लिया जाता है तो ध्यान के मुख्य फल की ओर आमुख नहीं हुआ जा सकता। ध्यान का मुख्य प्रयोजन है कार्मिक बंधन और पुराने संस्कारों से छुटकारा पाना। ये पुराने संस्कार ही भावों को दूषित बनाते हैं, मलिनता पैदा करते हैं। जब ये संस्कार टूटते हैं, तब व्यक्तित्व का पूरा रूपांतरण होता है। कर्म का निर्जरण ही ध्यान का मुख्य प्रयोजन है। इस प्रयोजनपूर्ति के लिए यदि दस दिन लगाए जाते हैं तो थोड़े ही हैं।

कर्मवाद और ध्यान की मीमांसा से हम फिर एक निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ध्यान के द्वारा हम कर्म से अकर्म की ओर प्रस्थान करते हैं। वैदिक ऋषियों ने मंगलकामना की थी—**तमसो मा ज्योतिर्गमय**—अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाला व्यक्ति यह मंगल-भावना करे—**कर्मणः अकर्मगमय**—कर्म से अकर्म की ओर ले चलो। अकर्म प्रकाश है, कर्म अंधकार है। अकर्म भयमुक्त है, कर्म भयमय है। प्रत्येक ध्यान-साधक यह मंगलभावना करे कि कर्म के सारे दोष और सारी मलिनताएं समाप्त हों, कृत्रिम समस्याएं और कल्पनाएं नष्ट हों। वह इस सचाई का अनुभव करे कि अकर्म का विकास किए बिना कर्म के साथ उत्पन्न होने वाला दोष समाप्त नहीं होता। इसलिए हम अकर्म की दिशा में आगे बढ़ें और ध्यान को जीवन का अनिवार्य अंग बनाएं। ❖

अगर मेरे लिए मृत्यु नहीं है, तो फिर जीवन भी 'मेरे लिए' नहीं है। मैं आज जीता हूं, यह भी उतनी ही सांयोगिक बात है जितनी यह कि कल मैं मर जाऊंगा। मुझे दोनों की चिंता छोड़ कर कुछ और से उलझना चाहिए, किसी दूसरी चीज को अपना लक्ष्य, साध्य, शोध्य बनाना चाहिए। वह 'और' क्या है या क्या हो सकता है? मूल्य। लेकिन कौन-सा मूल्य?

लोग कहते हैं 'जीवन-मूल्य'। तब क्या 'मृत्यु-मूल्य' भी होते हैं? कि दोनों नाम एक-से व्यर्थ हैं?

मूल्यों की खोज। मानव यह मानता है कि जीवन से बड़ा कोई मूल्य होता है—बल्कि मानव ही उसे गढ़ता है। वह जीवन से बड़ा होता है तो मृत्यु से भी बड़ा होता है। वही मेरा शोध्य हो सकता है : वह मूल्य जो जीवन-मरण से बड़ा है, पर मानव का ही गढ़ा है।

—अज्ञेय

सम्यक् आचरण से आध्यात्मिक ऊंचाई, परम तत्त्व की प्राप्ति की जा सकती है। आचार पक्ष उजला होने से जीवन की विकृतियों और विसंगतियों को दूर किया जा सकता है। चैतन्य को निर्मल किया जा सकता है। आचारांग के अनुसार ज्ञान आत्मा का अक्षर आलोक है। सैद्धांतिक दृष्टि से विचार किया जाए तो वह सब आत्माओं में समान है। जो आत्मा है, वह स्वयं प्रकाशी है, आचारांग ग्रंथ स्वयं-भू इसका साक्षी है—जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया—जो आत्मा है, वह जानता है। जो जानता है, वह आत्मा है। आत्मा व अनात्मा में अत्यंताभाव है। आत्मा कभी अनात्मा नहीं बनता। आत्मा विज्ञाता है। जो विज्ञाता है, वह आत्मा है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा ज्ञानशून्य नहीं है और ज्ञान आत्माशून्य नहीं। चूर्णिकार ने इसका समर्थन करते हुए कहा है—कोई भी आत्मा ज्ञान-विज्ञान से रहित नहीं है।

ज्ञान : आत्मा का अक्षर आलोक

साध्वी शुभ्रयशा

आचारांग का द्वादशांगी में महत्त्वपूर्ण स्थान है। अंगों का आधारभूत ग्रंथ होने से इसे प्रथम ग्रंथ भी कहा जाता है। दिगंबर और श्वेतांबर—दोनों परंपराओं में इसकी विषयवस्तु पर चर्चा की गई है। धवला और जयधवला के अनुसार आचारांग सूत्र में संयमपूर्वक चलना, खड़ा होना, बैठना और सोना आदि विषयों का वर्णन है।[1] समवाओं में आचार के प्रतिपादक विषयों की सूची लंबी है। समवाओं के अनुसार—आचारांग सूत्र में खड़ा होना, बैठना, चंक्रमण करना, समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि आदि अनेक विषयों का उल्लेख है।[2] आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरति प्रकरण में प्रथम श्रुत स्कंध की विषयवस्तु का संक्षेप में परिचय मात्र दिया है। आवश्यक निर्युक्ति में भी इस संदर्भ में विमर्श किया गया है। उत्तरवर्ती व्याख्याकारों व पंडितप्रवरों ने इस विषय पर अपनी कलम चलाई है, किंतु नंदीसूत्र वर्णित आचारांग की विषयवस्तु पर अभी तक चिंतन नहीं किया गया है। ये विषय आचारांग में हैं या नहीं? प्रत्यक्ष है या प्रकारांतर से है?

नंदीसूत्र में नौ विषयों का उल्लेख है, जो इस प्रकार हैं—

आयारो णं समणाणं णिग्गंथाणं-आयार-गोयर-विणयवेणइय-सिक्खा-भासा-अभासा-चरण-करण-जाया-माया-वित्तीयों आघविज्जंति।[3]

ऐसा लगता है कि आचार्य देववाचक ने जिन विषयों का उल्लेख किया है, उनमें अन्यान्य ग्रंथों में उल्लेखित प्रायः सभी विषयों का समावेश हो गया है। चूर्णिकार ने विषयों की स्पष्टता करते हुए उपविषयों के रूप में अनेक विषयों का समावेश किया है। देववाचक ने एक समग्र और व्यापक दृष्टिकोण को सामने रख कर आचारांग की विषयवस्तु के संदर्भ में जो कुछ भी लिखा है। वह आधुनिक प्रबंधन शैली का एक बेजोड़ नमूना है। आचारांग का समग्र आलोड़न-विलोड़न करने के बाद विषय की और भी स्पष्टता हो जाती है।

आचार्य जिनदास ने नंदी चूर्णि में विषयों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—

1 **आचार**—ज्ञान आदि की आसेवन विधि। 2. **गोचर**— भिक्षा ग्रहण की विधि। 3. **विनय**—ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रति विनय। 4. **वैनयिक**

शिक्षा—आसेवन, शिक्षा विनय का फल। 5. **भाषा**—मुनि के लिए वक्तव्य भाषा, सत्य भाषा, व्यवहार भाषा। 6. **अभाषा**—मुनि के लिए अवक्तव्य भाषा, असत्य भाषा, मिश्र भाषा। 7. **चरण**—पांच महाव्रत, समिति आदि। 8. **करण**—आहार शुद्धि। 9. **यात्रामात्रावृत्ति**— संयमजीवन निर्वाह हेतु प्रमाण युक्त आहार करना।[4]

आचार—ज्ञान आदि की आसेवन विधि

आचारांग का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि चूर्णिकार ने आचारांग में आयरणं आयारो का अर्थ ज्ञान आदि की आसेवन विधि किया है।[5] ज्ञान से ही आचार के स्वरूप का निर्धारण और शुद्धि के उपायों का अवबोध होता है। **अन्नाणी किं काही, किं वा नाहिइ छेय-पावगं।**[6] ज्ञान के अभाव में करणीय-अकरणीय की भेदरेखा नहीं की जा सकती। ज्ञान के बाद आचार का पक्ष संपुष्ट होता है। लक्ष्य प्राप्ति के लिए साध्य उपाय व फल का ज्ञान चक्षु की तरह है। जिस प्रकार महानगर में दाह लगने पर प्रज्ञा-चक्षु नहीं जान सकता कि उसे किस दिशा में जाना है, उसी तरह जीव विशेष ज्ञान के अभाव में नहीं जानता कि उसे असंयम रूपी दावानल से कैसे बचना है। ज्ञान के अभाव में नियम, सदाचार का सम्यक् पालन कैसे संभव है? अज्ञान ही बंध का हेतु है। अंधा चाहे कितना ही बहादुर क्यों न हो, वह शत्रु-सेना को पराजित नहीं कर सकता। वैसे ही अज्ञानी विकारों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता।[7]

सूत्रकार ने कहा है—**ओबुज्झमाणं इह माणवेसु आघाइ से णरे**[8]—ज्ञानी पुरुष ही सर्व जीव जातियों को जान कर असाधारण ज्ञान का आख्यान करते हैं। भाष्यकार ने मुक्ति मार्ग की चार कसौटियों में चौथी कसौटी बोधि-संपन्नता या प्रज्ञा-संपन्नता बताई है।[9] चूर्णिकार ने तत्संबंधी महत्त्वपूर्ण रहस्य का उद्घाटन किया है। यदि शिष्य और श्रोता बुद्धि-संपन्न नहीं होता है, तब सूत्र और अर्थ दोनों की हानि होती है। आचार्य द्वारा प्रतिपादित मुक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता।[10] क्योंकि धर्म तत्त्व और तत्त्वविनिश्चय की समीक्षा प्रज्ञा से होती है। प्रज्ञा के द्वारा ध्येय की प्राप्ति व अवांछनीय तत्त्वों का निरसन होता है। आचारांग का यह सूक्त—**मुणी मोणं समायाए, धुणे कम्मसरीरगं**[11]—मुनि ज्ञान को प्राप्त कर कर्म-शरीर को प्रकंपित कर सकता है। सम्यक् ज्ञान के महत्त्व को उजागर करता है, इसलिए सूत्रकार ने कहा है—

ज्ञान का महत्त्व है, किंतु क्रियाहीन ज्ञान अज्ञान से भी अधिक खतरनाक हैं।[12]

ज्ञान क्रिया का संबंध

जैन दर्शन अनेकांत प्रधान है। इसके अनुसार केवल ज्ञान से भी मुक्ति नहीं होती व केवल आचार भी लक्ष्य प्राप्ति में साधक नहीं हो सकता। ज्ञान और क्रिया के संयोग से ही सिद्धि मिलती है। एक चक्के से रथ नहीं चलता। प्रज्ञाचक्षु व पंगु एक-दूसरे के संयोग से ही नगर में प्रवेश कर सकते हैं।[13] आचारांग के अनुसार जहां भी ज्ञान है, वहां निश्चित रूप से आचार है, वहां निश्चित रूप से सम्यक्त्व है।

आचारांग में ज्ञान क्रिया का समन्वय प्रधान दृष्टिकोण है—

विणय णाणं णाणाउ दंसणं दसंणाहि चरणं तु।
चरणांहिंतो मोक्खो मोक्खे सुक्खं अणाबाहं।।

व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञान और आचार में दूरी मानी जा सकती है। निश्चय नय के अनुसार उनमें दूरी नहीं है। सम्यक् दर्शन व सम्यक् ज्ञान की परिणति सम्यक् चारित्र है। अतः सूत्रकार को ज्ञान व आचरण की एकता ही अभीष्ट है।

सम्यक् आचरण से आध्यात्मिक ऊंचाई, परम तत्त्व की प्राप्ति की जा सकती है। आचार पक्ष उजला होने से जीवन की विकृतियों और विसंगतियों को दूर किया जा सकता है। चैतन्य को निर्मल किया जा सकता है। आचारांग के अनुसार ज्ञान आत्मा का अक्षर आलोक है। सैद्धांतिक दृष्टि से विचार किया जाए तो वह सब आत्माओं में समान है। जो आत्मा है, वह स्वयं प्रकाशी है, आचारांग ग्रंथ स्वयं-भू इसका साक्षी है—**जे आया से विण्णाया, जे विंण्णा से आया**[14]—जो आत्मा है, वह जानता है। जो जानता है, वह आत्मा है। आत्मा व अनात्मा में अत्यंताभाव है। आत्मा कभी अनात्मा नहीं बनता। आत्मा विज्ञाता है। जो विज्ञाता है, वह आत्मा है। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा ज्ञानशून्य नहीं है और ज्ञान आत्माशून्य नहीं। चूर्णिकार ने इसका समर्थन करते हुए कहा है—कोई भी आत्मा ज्ञान-विज्ञान से रहित नहीं है, यथा अग्नि उष्णता से रहित नहीं होती।[15] वृत्तिकार का प्रतिपाद्य भी चूर्णिकार से भिन्न नहीं है। आत्मा भी जीव है, चैतन्य भी जीव है। जिस साधन से आत्मा जानती है, यह ज्ञान भी आत्मा है।[16]

आचारांग सूत्र में **मोणं** शब्द ज्ञान का द्योतक है।[17] जो त्रिकालावस्था को जानता है—वह मुनि है। गीता में इसके लिए पंडित शब्द का प्रयोग किया गया है। आचारांग सूत्र में अन्यत्र 'णाणी' शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने कहा है—**ज्ञानिनः इति सम्यक् दर्शनमापन्नाः।**[18]

ज्ञानी पुरुष कर्म को जान लेने के बाद ही उससे विरत होता है, इसलिए वह परिज्ञातकर्मा कहलाता है। चूर्णि में यह स्पष्ट निर्दिष्ट है कि परिज्ञातकर्मा वह है जो ज्ञानपूर्वक विरत होता है।[19]

सरलता का द्वार ज्ञान है। ज्ञान के द्वारा यथार्थ तत्त्व का बोध किया जाता है। साध्य की ओर कदम बढ़ाना है, किंतु साधन का परिज्ञान नहीं है—तो वह साध्य तक नहीं पहुंच सकता। जिसे गांव का नाम तो ज्ञात है, किंतु रास्ता नहीं जानता, वह अपने लक्ष्य तक कैसे पहुंच सकता है? ठीक उसी प्रकार, जो व्यक्ति आत्मस्वरूप को प्राप्त करना चाहता है, उसे जानता नहीं, केवल मानता है—वह आत्म प्राप्ति की प्रक्रिया का ज्ञान किए बिना उसे प्राप्त नहीं कर सकता। कहा भी है—

जेण जाणामि अप्पाणं आवी वा जाति वा रहे।
अज्जयारि अण्णज्जं वा तं णाणं अयलं धुवं।।[20]

जिसके द्वारा आत्मा को जाना जा सके, उसका ज्ञान किया जा सके, प्रत्यक्ष व परोक्ष में होने वाले शुभाशुभ कर्मों को देखा जा सके—वही ज्ञान शाश्वत है। आचारांग में निर्देश है—**विदिता लोगं वंता लोगसण्णं से मइमं परक्कमेज्जासि।**[21]

भगवान ने कहा—जागरण की दिशा में प्रस्थान करने के लिए पहली शर्त है—ज्ञान। आचारांग सूत्र के भाष्यकार आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—'आत्म प्राप्ति के लिए लोक का ज्ञान व लोकसंज्ञा का परित्याग अपेक्षित है।' भाष्यकार ने पहले लोक को जानने की बात कही है। फिर परित्याग की बात कही है। परिज्ञा के संबंध में भी पहले 'ज्ञ' परिज्ञा का उल्लेख प्राप्त होता है। क्योंकि जाने बिना छोड़ने की बात संगत नहीं। जब तक कषायलोक और उसके विपाक का सम्यक् अवबोध नहीं होता, तब तक इस दिशा में पराक्रम नहीं किया जा सकता। आत्मा को वही प्राप्त कर सकता है, जो आरंभ से उपरत होता है। आरंभ से उपरत होने के लिए विशिष्ट ज्ञानार्जन करना जरूरी है। जैसे-जैसे 'ज्ञ' परिज्ञा होती है, वैसे-वैसे प्रत्याख्यान परिज्ञा का विकास होने लगता है। ज्ञान की उच्च भूमिका प्राप्त होने पर आरंभ अपने-आप छूट जाता है जैसा कि कहा है—

से पास सव्वतो गुते पास लोए महेसिणो,
जे य पण्णाणमंता पंबुद्धा आरंभोवरेया।।[22]

लोक में जो प्रज्ञावान हैं, चौदहपूर्वी हैं, अथवा आचारांग आदि के धारक हैं, जो प्रबुद्ध हैं, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी अथवा श्रुतधर्म—आगम विशारद हैं, वे आरंभ से उपरत हैं, अस्तु, ज्ञान की उपादेयता स्वतःसिद्ध है। ज्ञान सूर्य के समान आलोक फैलाता है, जिससे अज्ञानरूपी अंधकार का अस्तित्व ही नहीं रहता। अज्ञान का न होना ही आत्म प्राप्ति का प्रथम सोपान है। कहा है—

विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता।[23]

आचार्य देववाचक ने नंदीसूत्र में वर्णित नौ विषयों के अंतर्गत आचारांग में प्रथमतः ज्ञान विषयक जो उल्लेख किया है—वह सार्थक और युक्तियुक्त है। क्योंकि व्यवहार में भी हम देखते हैं कि वही व्यक्ति अपने कार्य में सफल होता है जो ज्ञानपूर्वक व्यापार आदि क्रियाएं करता है। बिना ज्ञान के आत्मतत्त्व की प्राप्ति संभव नहीं हो सकती, क्योंकि आत्मतत्त्व पुद्गल जगत से भी अधिक सूक्ष्म है।

ज्ञान आत्मतत्त्व को प्राप्त करने का पहला सोपान है। आत्मतत्त्व को पाने के लिए संयम जीवन की परिपालना आवश्यक है और इसके लिए भिक्षा विधि का ज्ञान आवश्यक है। गोचरी संबंधी सूत्र का उल्लेख करते हुए आचारांग में कहा है—**से भिक्खु कालण्णे, बलण्णे, मायण्णे, खेयण्णे, विणयण्णे, समयण्णे, भावण्णे परिग्गहं, अममायमाणे, कालेणुट्ठाई, अपडिण्णे।**[24]

प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने भिक्षु को संबोधित कर भिक्षाचर्या के अंतर्गत जो दिशा-निर्देश दिया है, वह बहुत मार्मिक है। मनोवैज्ञानिक व शरीरशास्त्रीय दृष्टि से भी मननीय है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आचारांग भाष्य में इस सूत्र की व्याख्या की है। वह प्रत्येक पाकशास्त्री के लिए ज्ञातव्य ही नहीं, समाचरणीय भी है। यदि इस एक ही सूत्र को ध्यान में रख कर कुशल गृहिणी आहार संबंधी विवेक रखे तो आधी बीमारियों—जिनका कारण आहार का अविवेक है—का निरसन संभव है।

गोचर-भिक्षा ग्रहण की विधि

गोचराग्र-अग्र-प्रधान आधाकर्मादि परिहारेण से चासौ गोरिव चरणम् उच्चावच कुलेष्वविशेषण पर्यटन गोचरः[25] गोचराग्र से तात्पर्य है—गाय की तरह उच्चावच कुलों में निर्दोष भिक्षा के लिए पर्यटन करना।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र की अभिवृद्धि आहार के बिना नहीं हो सकती है। शरीर की सुरक्षा आहार आदि पौद्गलिक सामग्री के बिना संभव नहीं है। इसलिए संयम जीवन की सुरक्षा के लिए आहार आवश्यक है। आहार-विधि के संदर्भ में निम्नलिखित बिंदु आचरणीय हैं—

कालज्ञ : भिक्षा के काल का ज्ञाता

आहार प्राप्ति के लिए काल-ज्ञान होना मुनि की प्रथम अर्हता है। कालज्ञ भिक्षु भिक्षाकाल को जानता है। किस समय कहां भिक्षा करना है, उसे जानता है और जिस क्षेत्र में जो भिक्षा का काल है, उसे भी जानता है। काल का ज्ञान न होने पर श्रम और शक्ति का अपव्यय होता है। एक क्षेत्र में भोजन दस बजे प्राप्त होता है, अन्य क्षेत्र में दो बजे—यदि भिक्षु को भिक्षा के काल का ज्ञान नहीं होगा तो वह भिक्षा प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकेगा। आचारांग चूर्णि में भी कहा है—**काले चरतंस्स उज्जमों सफलो भवति, अकाले विफलं।**[26] दशवैकालिक सूत्र में कहा है—भिक्षो! तुम अकाल में जाते हो, काल की प्रतिलेखना नहीं करते, इसलिए तुम अपने-आप को क्लांत करते हो।[27] विनय-पिटक में भी विकाल में खाद्य-भोज्य के सेवन को पाचितिय दोष कहा है।[28] घरों में जब धुआं दिखाई न पड़े, मूसल का शब्द न होता हो, आग बुझ गई हो, सब लोग भोजन कर चुके हों और खाने के पात्र बाहर फेंक दिए गए हों, तब भिक्षा के लिए संन्यासी सर्वदा न निकले।[29] प्रस्तुत प्रसंग में मनुस्मृति में अनेक प्रश्न उभारे हैं। क्या उस समय वैदिक संन्यासी के लिए आहार बना कर देवपिंड की तरह निकाल दिया जाता था? यदि ऐसी व्यवस्था होती तो सूत्रकार को—**अलोभेन विषादो**—कहने की अपेक्षा नहीं थी। ऐसा भी नहीं लगता है कि जिस समय साधु जाता, भोजन बना कर दे देते, क्योंकि यह व्यावहारिक नहीं लगता। आहार संबंधी प्रवृत्ति से निवृत्त होकर संन्यासी के निमित्त प्रतिदिन कौन अपने-आप को इस कार्य में योजित करेगा?

कालज्ञ भिक्षु कौन-से काल में कौन-सा आहार करना चाहिए, इसका भी ज्ञान रखता है। आहार विवेक शारीरिक स्वास्थ्य की कुंजी है, क्योंकि भोज्य पदार्थ ऋतु व समय के अनुसार खाने से शरीर का पोषण करते हैं। असमय में खाने पर विकृति उत्पन्न करते हैं। यथा—शाम को केला/खरबूजा विकृति के कारक हैं। सुबह खाने से स्वास्थ्य लाभ के हेतु बनते हैं।

बलज्ञ : भिक्षाटन की शक्ति का ज्ञाता

चूर्णि में बलज्ञ का अर्थ—**अप्परकंतं बलं जाणाति इति बलज्ञ**—है।

गोचरी करते समय भिक्षु को अपने सामर्थ्य से अधिक भ्रमण नहीं करना चाहिए। श्रम से अत्यंत क्लांत होने पर प्राप्त आहार का उपभोग भी नहीं कर सकता।[30] इसलिए बलज्ञ श्रमण अपने सामर्थ्य के अनुसार ही आहार उपलब्धि के लिए परिव्रजन करता है। आचारांग वृत्ति में बलज्ञ का अर्थ शक्ति के अनुसार अनुष्ठान करने वाला व बल-वीर्य का गोपन न करने वाला किया है।[31] एक गृहिणी भी यदि अपने सामर्थ्य से अधिक पाकशाला में कार्य करेगी, तो वह भी पाक-कला में कुशल नहीं हो सकेगी।

मात्रज्ञ : आहार की मात्रा का ज्ञाता

चूर्णिकार के अनुसार—**मतं जाणति मातण्णे। अप्पणे। जस्स वा दावयं उभयस्सवा।**[32] आचारांगवृत्ति में आहार की मात्रा के संबंध में दो निर्देश दिए हैं—
1. भिक्षु उतनी ही मात्रा को ग्रहण करें कि उसके लेने के बाद गृहस्थ को पुनः आरंभ न करना पड़े। 2. स्वयं की कार्य निष्पत्ति भी सम्यक् हो जाए और गृहस्थ को पुनः आहार न बनाना पड़े।[33]

आचारांग चूर्णि में मात्रज्ञ के लिए काल और वस्तु संबंधी निर्देश भी दिया है—1. काल के अनुसार मात्रा का ज्ञाता होना चाहिए। 2. वस्तु संबंधी मात्रा का ज्ञाता होना चाहिए—**एवं साधारणे काले जाव जहिं काले मत्ता, अहवा वत्थुं आसज्ज मत्ता भवन्ति।**[34]—जिस भिक्षु को मात्रा का ज्ञान नहीं होता वह आहार का अतिमात्रा में या अत्यंत अल्प मात्रा में सेवन करता है। इस विधि से आहार करने पर शरीर का अतिपोषण अथवा कुपोषण होता है। परिणामतः प्राणी की शक्ति क्षीण हो जाती है। इससे सुप्त शक्ति का जागरण नहीं हो सकता।

अतः स्पष्ट है कि चूर्णिकार ने आज से हजारों वर्ष पूर्व आहार संबंधी जो विवेक दिया वह हितकर होने के

साथ-साथ परम वैज्ञानिक भी है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार जैसा आहार, वैसा न्यूरोट्रांसमीटर। जैसा न्यूरोट्रांसमीटर, वैसा व्यवहार। पत्ती के शाक व फल खाने से सेराटॉनिन रसायन बनता है। उसका स्राव संतुलित होने से संतुलित व्यक्तित्व का निर्माण व स्राव कम होने से चिड़चिड़ापन आता है। चूर्णिकार के दोनों प्रकार ऋतु व वस्तु संबंधी जितने व्यवहार्य हैं, उतने ही वैज्ञानिक हैं। प्रस्तुत बिंदु पर आयुर्वेद में भी चर्चा है। किंतु, आचारांग में समग्रता से प्रतिपादन किया गया है। वर्तमान चिकित्सक संतुलित 'डाइट' का जो परामर्श देते हैं, वह बात आचारांग सूत्र में हजारों वर्ष पूर्व ही बता दी गई है।

क्षेत्रज्ञ : आहार प्राप्ति के समय का ज्ञाता

खितं जाणतीति खितण्णें[35]

अहवा संसार पर्यटन जनितक्षमस्तं जानातीति क्षेत्रज्ञ।[36]

मुनि आहार प्राप्ति के लिए उचित क्षेत्रों का जानकार होता है। बृहत्कल्पभाष्य में तत्संबंधी निर्देश है कि आचार्य जिस क्षेत्र का विहार करें, पहले विशिष्ट साधु उस क्षेत्र की प्रतिलेखना कर यह ज्ञात करें कि वह क्षेत्र आचार्य के चातुर्मास या शेषकाल के योग्य है या नहीं। चूर्णिकार के अनुसार जो भिक्षा करने में कुशल होता है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है।[37] वृत्तिकार ने वर्जित कुल व क्षेत्र के ज्ञाता को भी क्षणज्ञ कहा है।[38] वृत्ति में 'क्षेत्रज्ञ' के स्थान पर क्षणज्ञ का उल्लेख है। क्षणज्ञ की मीमांसा इस प्रकार की जा सकती है—**क्षण: अवसर: भिक्षार्थमुपसप्पार्णादिकस्तं जानातीति क्षणज्ञ:**[39]—भिक्षा का अवसर आने पर अवसर के अनुसार भिक्षा करने वाला क्षणज्ञ कहलाता है।

क्षणज्ञ—भिक्षा का क्षण—अवसर उपस्थित होने पर वह जानता है कि क्या बोलना चाहिए और क्या नहीं बोलना चाहिए। अवसर देख कर गोचरी करना।

आवश्यक चूर्णि में क्षणज्ञ[40] के दो अर्थ किए हैं— 1. आहार प्राप्ति के लिए कथा आदि अनैषणीय कार्यों का वर्जन करना। 2. आहार प्राप्ति के लिए कौतूहल न दिखाना और विक्षिप्त चित्त से भिक्षा ग्रहण न करना।

वृत्तिकार ने अवसर पर भिक्षा के लिए जाने वाले को क्षणज्ञ कहा है।[41] दीपिकाकार ने वृत्तिकार का ही अनुसरण किया है।

वस्तुतः अनैषणीय का परिहार व एषणीय का दाता के अभिप्राय को जान कर ग्रहण करना उत्तम भिक्षावृत्ति है।

विनयज्ञ : भिक्षाचर्या की आचार संहिता का ज्ञाता

वह भिक्षु विनयज्ञ कहलाता है जो आचार और अनुशासन का ज्ञाता होता है। चूर्णि में भी इसका अर्थ आचार-प्रधान किया है। देव, गुरु और गृहस्थ के घर जाने की विधि का विस्तार से निर्देश किया है—1. दब-दब करता हुआ, दौड़ता हुआ न जाए। 2. अतिभूमि—अननुज्ञात या गृहस्थ द्वारा प्रवेश-निषेध भूभाग में भिक्षा के लिए न जाए। 3. दीनता या अहंभाव का प्रदर्शन कर भिक्षा ग्रहण न करें। 4. भिक्षा ग्रहण करते समय तिरछी दृष्टि से गृहस्वामिनी की इंद्रियों का अवलोकन न करें। 5. गुह्य स्थान जहां से दिखाई दे, वहां खड़ा न रहे। 6. मैथुन कथा से उपरत रहे।

दशवैकालिक के पांचवें अध्ययन में इनका विस्तार से विवेचन किया गया है। दोनों में बहुत साम्य है।

दवदवस्स न गच्छेजा।[42]

चरंतो न विणिज्झाए, सकंट्ठाणं विवज्जए।[43]

पडिकुट्ठकुलं न पविसे मामंग परिवज्जए।[44]

उप्फुल्लं न विणिज्झाएं।[45]

अइभूमिं न गच्छेजा।[46]

टीकाकार व दीपिकाकार ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र के ज्ञाता को विनयज्ञ कहा है। यद्यपि टीकाकार के द्वारा इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है, तथापि यह स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि यहां ज्ञाता क्रिया प्रधान नहीं, आचरण प्रधान ही ग्रहण करना चाहिए। चूर्णिकार ने बहुत स्पष्टता से 'विनयज्ञ' पद के द्वारा गोचरी जाने की विधि का निर्देश किया है। यदि भिक्षु आहार प्राप्ति के लिए दौड़ता हुआ जाएगा तो प्रवचन की लघुता, आत्मविराधना व समय विराधना की आशंका रहेगी। वर्जित भूभाग में जाने से गृहस्थ के मन में अप्रीति पैदा होगी। गुह्य स्थान में खड़े रहने से, स्त्री कथादि करने से काम-वासना जाग्रत हो जाएगी। ये सब प्रकारांतर से ज्ञानादि के बाधक तत्त्व हैं।

अतः इनके परिहार का निर्देश दिया है। भाष्यकार ने बहुत सरल और स्पष्ट रूप से कहा है कि विनयज्ञ भिक्षु भिक्षा के लिए घर में प्रवेश कर अननुज्ञात भूमि में नहीं जाता। इंद्रियों को अपने-अपने विषय में नियोजित करता है। गुप्त स्थानों तथा आभूषणों को घूर कर नहीं देखता, चिरकाल तक नहीं देखता।[47]

समयज्ञ : भिक्षाचर्या के समय का ज्ञाता

सिद्धांत का ज्ञाता आहार प्राप्ति या गोचरी करने वाला भिक्षु समयज्ञ होता है। यहां समय से तात्पर्य सिद्धांत से है। वह भिक्षु स्वसिद्धांत, पर-सिद्धांत व उभय-सिद्धांत का ज्ञाता होता है। चूर्णिकार ने कहा है कि समयज्ञ भिक्षु ही भिक्षा संबंधी दोषों के बारे में पूछने पर उनका सम्यक् समाधान कर सकता है।[48] टीकाकार ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है।

समयज्ञ भिक्षु

सोलह उद्‌गम के दोष—दाताकृत।

सोलह उत्पादन के दोष—साधुकृत

दस एषणा के दोष—उभयकृत।

समयज्ञ भिक्षु दोषों को सम्यक् प्रकार से जान कर उनका परिहार कर सकता है। अतः सिद्धांत का ज्ञान करना बहुत जरूरी है, अन्यथा भिक्षाचर्या में दोष की संभावना रहेगी। निशीथ सूत्र में भाष्यकार ने मार्गवर्ती मुनि के लिए द्वितीय पद—अपवाद पद की विधि बताई है। यदि मार्गवर्ती भिक्षु सिद्धांत का ज्ञाता न हो, गृहस्थ को उत्तर देने में समर्थ न हो, गृहस्थ वाद करने में कुशल हो तो मुनि गृहस्थ से बिना तर्क के भिक्षा ग्रहण कर ले। **—एसे एत्थ धिज्जति, तो विदु चिट्ठति, एस इमं पुच्छिज्ञाति कीस ण गेएहसि? अहं च पडिक्तीए अकुसलौ,.... ततो एवं सागरिए तमकप्पियं भिक्खं घेतुं पच्छा परिट्ठवति।** —क्योंकि दाता की जिज्ञासा का समाधान न करने पर प्रवचन लाघव का प्रसंग भी आ सकता है।[49] अपवाद विधि का समयज्ञ भिक्षु को ज्ञान रहना चाहिए।

भावज्ञ : भाव का ज्ञाता

दाता के भाव का ज्ञाता-भिक्षु दाता के प्रिय-अप्रिय भावों को जानने वाला होता है। दाता के अभिप्राय को जाने बिना जो भिक्षा ग्रहण करे, मनोज्ञ पदार्थों को मात्रा से अधिक ग्रहण करें तो स्वयं की आसक्ति का पोषण होता है। दाता के मन में भिक्षु के प्रति सम्मान भाव का ह्रास होता है। इंद्रियासक्ति बढ़ती है।

गोचरी करने वाला भिक्षु परिग्रह में 'मेरापन'—ममत्व बुद्धि से मुक्त होना चाहिए। परिग्रह से तात्पर्य है—संयम धारण करने के लिए अनावश्यक वस्तुओं का संग्रह करना या आवश्यक उपकरणों को अनिवार्य आवश्यकता मान लेना। आवश्यक, अनावश्यक की भेदरेखा करते हुए चूर्णिकार ने कहा है—जो वस्तुएं संयम यात्रा का निर्वहन करने में उपकारी होती हैं, उन्हें आवश्यक उपकरण कहा जाता है।[50] वृत्तिकार ने चूर्णि का समर्थन किया है। मुनि संयम यात्रा के लिए अतिरिक्त उपकरणों पर ममत्व न करें, उन्हें मन से भी स्वीकार न करें।[51] इससे आहार संबंधी प्रसंग स्पष्ट नहीं होता है। वृत्तिकार इस संबंध में मौन है। किंतु, चूर्णिकार ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है—आहार के संबंध में ममत्व न करने का तात्पर्य है संयमयात्रा का निर्वहन करने के लिए अनैषणीय को ग्रहण न करें।[52]

कालोत्थायी : पराक्रम काल का ज्ञाता

जो भिक्षु उचित समय में उचित श्रम करता है, पुरुषार्थ करता है—उसे कालोत्थायी कहा है। पूर्व-निर्दिष्ट कालज्ञ पद से भिक्षाकाल का संकेत किया है। यहां कालोत्थायी पद से पराक्रम काल का संकेत है। यह पद बलज्ञ का पुनरुक्त भी नहीं हो सकता, क्योंकि कालज्ञ और बलज्ञ—इन पदों में ज्ञान की विवक्षा है। काल—समय का ज्ञान। बल—शक्ति या सामर्थ्य का ज्ञान। यहां काल का अर्थ है—पराक्रम। अतः यहां काल शब्द क्रियाप्रधान है।[53] संदर्भ से एक ही पद के अर्थ भिन्न होने से पुनरुक्त दोष की शंका भी निराधार है। वृत्तिकार ने इसकी समायोजना करते हुए कहा है कि ज्ञ परिज्ञा से कर्तव्य काल को जाना जाता है। यह बात संगत भी है। प्रथम कालज्ञ—कर्तव्यबोधक है। यहां प्रयुक्त कालोत्थायी पद क्रियाबोधक है।

अप्रतिज्ञ

भोजन के प्रति असंकल्पित प्रतिज्ञा से तात्पर्य है—कषाय से होने वाली अविरति। प्रस्तुत प्रसंग में अप्रतिज्ञ का अर्थ है—केवल अपने लिए ही नहीं, सामुदायिक गोचरी करना अप्रतिज्ञ है। चूर्णिकार ने इस संबंध में नया चिंतन दिया है—अप्रतिज्ञ वह होता है—1. जो भिक्षु अपने-आप को, गुरु को व अन्य मुनिजनों को लक्ष्य कर गोचरी करता है, वह अप्रतिज्ञ कहलाता है, क्योंकि वह केवल अपने उद्देश्य से ही ग्रहण नहीं करता, इसलिए अप्रतिज्ञ है। 2. जो भिक्षु अप्रतिज्ञात कुलों से भिक्षा ग्रहण करता है—वह अप्रतिज्ञ है। 3. जो भिक्षु अकेला होता है, वह ज्ञानादि की प्राप्ति के लिए भिक्षा ग्रहण करता है, वह भी अप्रतिज्ञ है।[54] वृत्तिकार ने इसका समर्थन किया

है, साथ ही साथ 'अप्रतिज्ञ' के अनेक अर्थ भी किए हैं— अनिदान, स्याद्वाद प्रधान आगम के ज्ञाता। ❖

संदर्भ

1. कषाय पाहुड, पृ. 122
2. समवाओ प्रकीर्णक, समवाय 89
3. नंदीसूत्र, 81
4. नंदी चूर्णि, पृ. 61-62
5. आचारांग चूर्णि, पृ. 61
6. दशवैकालिक, 4/10
7. आवश्यक निर्युक्ति, 219
8. आचारांग सूत्र, 6/1
9. आचारांग भाष्य, पृ. 300
10. आचारांग चूर्णि, पृ. 201
11. आचारांग सूत्र, 5/59
12. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा 100
13. आचारांग वृत्ति, पत्र 310
14. आचारांग सूत्र, 5/104
15. आचारांग चूर्णि, पृ. 184
16. आचारांग वृत्ति, पत्र 205
17. आचारांग सूत्र, 5/57
18. आचारांग भाष्य, पृ. 217
19. आचारांग चूर्णि, पृ. 17
20. इषिभाषियाइं, 4/3
21. आचारांग सूत्र, 3/25
22. आचारांग सूत्र, 5/90
23. आचारांग वृत्ति, पत्र 316
24. आचारांग सूत्र, 2/110
25. उत्तराध्ययन शांत्याचार्य वृत्ति, 607
26. आचारांग चूर्णि, पृ. 78
27. दशवैकालिक, 5/215
28. विनयपिटक, पृ. 26
29. मनुस्मृति, 6/25
30. आचारांग चूर्णि, पृ. 78
31. आचारांग वृत्ति, पत्र 131
32. आचारांग चूर्णि, पृ. 79
33. आचारांग वृत्ति, 131
34. आचारांग चूर्णि, पृ. 79
35. आचारांग चूर्णि, पृ. 79
36. आचारांग दीपिका, पृ. 60
37. आचारांग चूर्णि, पृ. 79
38. आचारांग वृत्ति, पृ. 131
39. आचारांग दीपिका, पृ. 70
40. आचारांग चूर्णि, पृ. 79
41. आचारांग वृत्ति, पत्र 131
42. दशवैकालिक, 5/14
43. दशवैकालिक, 5/15
44. दशवैकालिक, 5/16
45. दशवैकालिक, 5/23
46. दशवैकालिक, 5/24
47. आचारांग भाष्य, पृ. 122-123
48. आचारांग चूर्णि, पृ. 79
49. आचारांग वृत्ति, पत्र 132
50. आचारांग चूर्णि, पृ. 79
51. आचारांग वृत्ति, पत्र 132
52. आचारांग चूर्णि, पृ. 78-79
53. आचारांग चूर्णि, पृ. 79
54. आचारांग चूर्णि, पृ. 79/80

❖❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

वस्तुतः इच्छा आसक्ति की संचालक होती है, क्योंकि असंयमित इच्छाओं के कारण ही आसक्ति भावना का विस्तार होता है। इसलिए कहा जा सकता है कि इच्छाएं आसक्ति को संचालित करने वाला यंत्र है। जिस प्रकार किसी यंत्र को आरंभ करते ही उसके परिणाम भी स्वचालित हो जाते हैं, उसी प्रकार जिन-जिन विषयों की व्यक्ति इच्छा करता है उन-उन विषयों के प्रति आसक्ति भावना का विस्तार भी स्वयमेव हो जाता है। 'इस प्रकार इच्छा से आसक्ति, आसक्ति से नवीन आसक्ति की उत्पत्ति, उससे फिर नवीन आसक्ति की उत्पत्ति का क्रम चलता रहता है। आसक्ति से आरंभ (हिंसा), आरंभ (हिंसा) से इच्छा का यह चक्र जारी रहता है।'

आसक्ति भाव : सांसारिक बंध और असद् आचार

डॉ. संतोष आचार्य

भारतीय दार्शनिक दृष्टि से सांसारिक विषय-भोगों के प्रति लगाव ही आसक्ति है। इस लगाव के परिणामस्वरूप व्यक्ति संसार से संयुक्त होता है और जब लगाव से अलगाव हो जाता है तो व्यक्ति संसार से मुक्त हो जाता है। लेकिन, जब तक व्यक्ति आसक्ति भावों के साथ कार्य करता है तब तक वह अपने किए गए कर्मफल भोग हेतु एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर को ग्रहण करता रहता है। अतः आसक्ति भावों के कारण आत्मा अनेक बार शरीर धारण करती है और इस प्रकार कर्मफल भोग हेतु आत्मा की एक भव से दूसरे भव में परिणति ही संसार है।

भारतीय दर्शन में आसक्ति के लिए सामान्यतः राग शब्द का प्रयोग किया जाता है। कहा भी गया है कि 'आसक्तिलक्षणा राग'[1]। वस्तुतः 'राग' एक सुखानुभूति होती है और जीवन में जब सुख या आनन्द का अभाव होता है तो पूर्व-अनुभूत सुखों की स्मृति के आधार पर सुख या सुख के साधनों के प्रति जो तृष्णा या कामना होती है उसे ही 'राग' कहा जाता है। आसक्ति या राग के कारण जो चीज हमको प्रिय लगती है उसके बारे में हम सोचते रहते हैं। अर्थात् जिसमें हमारी आसक्ति होती है उस विशेष विषय का हम निरंतर ध्यान करते रहते हैं। इस प्रकार की जीवन-शैली से सांसारिक विषय-भोगों के प्रति एक प्रकार का लगाव उत्पन्न हो जाता है और इसी के परिणामस्वरूप व्यक्ति को यह अनुभूति होती है कि यह वस्तु मिलनी ही चाहिए, उसी की वह कामना करता है और ज्यों ही 'कामना' पूर्ण हो जाती है तो लोभ उत्पन्न हो जाता है। कहा गया है—'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'—लाभ बढ़ता जाता है तो लोभ भी उत्तरोतर बढ़ता जाएगा, लेकिन जब कामना की पूर्ति में अड़चनें आती हैं तो क्रोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार आसक्ति या राग के कारण ही काम, क्रोध और लोभ का जन्म होता है।

अतः स्पष्ट है कि जीवात्मा जब आसक्तियुक्त भावों से कार्य करता है तो कामनाओं की उत्पत्ति होती है और व्यक्ति कामनाओं को पूर्ण करने का प्रयास करता रहता है। एक कामना के पूर्ण हो जाने पर दूसरी और दूसरी के पूर्ण हो जाने पर तीसरी कामना उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार यह क्रम जारी रहता है और अन्ततः पुनः प्रथम कामना पुनर्जीवित हो जाती है। अतएव आसक्ति-युक्त कार्य करने से कामनाएं अनुलोम-प्रतिलोम क्रमानुसार चलती रहती हैं। जब तक कामनाओं के अनुलोम-प्रतिलोम क्रम का यह चक्र घूमता रहता है तब तक संसार में जीवात्मा के जन्म-मरण का चक्र भी चलता रहता है।

कहा जा सकता है कि जिस प्रकार सूर्य से प्रकाश फैलता है, उसी प्रकार आसक्ति से 'संसार' फैलता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'आसक्ति' ही संसाररूपी पेड़ की जड़ है या कर्म में निहित आसक्ति भाव ही वह तत्त्व है जो जीवात्मा को संसार से बांधता है। विषयों के प्रति आसक्ति भावना ही भव-सागर का मूल है। इस बात पर वैदिक और वेदेतर, दोनों ही दार्शनिक विचारधाराओं में मतैक्य देखने को मिलता है।

सर्वप्रथम इस संदर्भ में वेद और उपनिषदों की दृष्टि से विचार करें तो हम देखते हैं कि वहां भी सूक्ष्म शरीर में अंतर्निहित विषय-भोगों के प्रति लिपटी आसक्ति भावनाओं को ही जीवात्मा की मृत्यु के पश्चात् इस संसार में पुनरागमन का कारण माना गया है। वस्तुतः पंचतत्त्वों से निर्मित यह स्थूल शरीर मृत्यु के पश्चात् अपने कारणों में विलीन हो जाता है, परन्तु आत्मा एवं समस्त काम-वासनाओं सहित सूक्ष्म शरीर मृत्यु के बाद भी, स्थूल शरीर के समाप्त हो जाने पर भी समाप्त नहीं होता है, बल्कि मृत्यु के पश्चात् जब आत्मा स्थूल शरीर का त्याग करती है तो पूर्वजन्म के कर्मानुसार सूक्ष्म शरीर इस संसार में नया जन्म लिया करता है। जिस प्रकार फूल में सुगन्ध तथा कपड़े में रंग लिपटा रहता है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में ये आसक्ति भाव लिपटे रहते हैं, जो संसार का कारण बनते हैं। अतः स्पष्ट है कि आसक्ति भाव-युक्त सूक्ष्म शरीर बार-बार स्थूल शरीर का त्याग कर नवीन स्थूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। इसलिए—'स्थूल शरीर को ही व्यक्तित्व मानना तथा यह कहना कि स्थूल शरीर के नष्ट होने पर व्यक्ति ही समाप्त हो जाता है, यह कहना कि बिजली का बल्ब फूट जाने या फ्यूज हो जाने पर बिजली ही नहीं रहती तथा उस बल्ब के स्थान पर कोई बल्ब नहीं जल सकता, व्यक्तित्व की इस प्रकार की धारणा मूर्खतापूर्ण धारणा है।'[2]

यहां तात्पर्य यह है कि केवल स्थूल शरीर के समाप्त होने पर जीवन समाप्त नहीं होता, वरन सूक्ष्म शरीर में अंतर्निहित आसक्तियुक्त भावों के कारण संसार-चक्र चलता रहता है। वास्तव में—'शरीर में रहने और छोड़ने का अभिप्राय मनोमय सूक्ष्म शरीर भाव का स्थूल शरीर भाव के साथ तादात्म्य करने और छोड़ने से है।'[3]

यहां भाव का तात्पर्य आसक्ति भाव से है और ये भाव ही भव का हेतु होते हैं। इस संदर्भ में सांख्य दर्शन का मत भी स्पष्ट है। मृत्यु के पश्चात् पुरुष या आत्मा के कृतकर्मों के संस्कार, जिनको 'भाव' कहते हैं, वे सूक्ष्म शरीर के साथ अनुस्यूत तथा जन्मांतरण का भोग करते हैं। अतः जब तक हमारी आत्मा कामनामय सूक्ष्म शरीर के साथ रहेगी तब तक यह संसारचक्र अनवरत रूप से चलता रहेगा।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कामना से आसक्त हुआ सूक्ष्म शरीर ही संसार का हेतु होता है। इस बात की पुष्टि उपनिषदों के इन वाक्यों से भी होती है—'यह लिंग या सूक्ष्म शरीर—मन जिस कामना के साथ आसक्त हो जाता है उसी की ओर खिंचा चला जाता है। यह जीवात्मा यहां जो कुछ भी कर्म करता है उसके अंत, अर्थात् फल को प्राप्त करके ही उस कर्मलोक से दूसरे, अर्थात् दूसरे कर्म को करने के लिए पुनः संसार में लौट आता है। इसी कारण यह कामायमान अर्थात् कामना करने वाला जीव सांसारिक आवागमन में बद्ध रहता है।'[4]

उपनिषदों के अनुसार—'जो व्यक्ति आसक्तियुक्त कामनाओं को ही सब-कुछ मान बैठा है, उन्हीं की आराधना करता है, वह उन कामनाओं के साथ इस संसार में भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न होता है।'[5]

इन संदर्भ में आसक्ति के प्रकार और आसक्ति के कारणों का विवेचन करना प्रासंगिक होगा। वैदिक दृष्टि से आसक्ति के मुख्य रूप से चार प्रकार हैं—

—कर्तृत्वासक्ति

—कर्मासक्ति

—फलासक्ति

—अकर्तृत्वासक्ति

कर्तृत्वासक्ति से तात्पर्य है—'मैं यह काम कर रहा हूं या मैंने ही यह काम किया है।' दूसरे कर्मासक्ति से तात्पर्य किसी कर्म-विशेष में लगाव होना अर्थात् 'मैं यही काम करूंगा, वह काम नहीं करूंगा'। इसके बाद तीसरे प्रकार की आसक्ति से तात्पर्य है—'जो काम मैंने किया, उसका फल मुझको मिलना ही चाहिए।' इस प्रकार का अनुरोध फलासक्ति को स्पष्ट करता है। इन तीन प्रकार की आसक्तियों के कारण व्यक्ति इस संसार में संसरण करता है। इसलिए मैंने यह काम किया—यह आसक्ति नहीं होनी चाहिए। मैं यही काम करूंगा—यह आसक्ति भी नहीं होनी चाहिए। मैंने जो कर्म किया उसका उक्त फल मुझे मिलना ही चाहिए—यह आसक्ति भी नहीं होनी

चाहिए। लेकिन, इसका तात्पर्य यह कतई नहीं है कि व्यक्ति को कर्म करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि—'मैं कर्म नहीं करूंगा'—यह भी एक प्रकार की आसक्ति है, इसे अकर्तृत्वासक्ति कहते हैं।

इस प्रकार भारतीय विचारधारा में कर्म न करने का आग्रह नहीं है, बल्कि कर्म में लिप्त न होने का आग्रह है। क्योंकि मनुष्य द्वारा कृतकर्म संसार-बंधन का कारण नहीं है। वरन कर्म में निहित आसक्ति भावना ही संसार-बंधन का मूल हेतु है। इसलिए कहा गया है कि 'कर्म स्वभावतः अंधा, अचेतन या मृत होता है। वह न तो किसी को स्वयं पकड़ता है और न ही किसी को छोड़ता है। वह स्वयं न अच्छा है, न बुरा। मनुष्य अपने जीव को इन कर्मों में फंसा कर इन्हें अपनी आसक्ति से अच्छा या बुरा और शुभ या अशुभ बना लेता है। इसलिए कहा जा सकता है कि ममत्वयुक्त आसक्ति के छूटने पर कर्म के बंधन आप ही टूट जाते हैं। फिर चाहे वे कर्म बने रहें या चले जाएं।'[6]

इसलिए भारतीय दर्शन में कर्म न छोड़ कर केवल फलाशा को छोड़ने या कर्मफल की आसक्ति का त्याग करके आसक्तिरहित होकर निष्काम भाव से कर्म करने का निर्देश किया गया है। इसकी पुष्टि उपनिषदों के निम्नलिखित सूत्र से होती है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समाः
एवं त्वाये नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरेः।।[7]

तात्पर्य यह है कि मनुष्य को कर्म छोड़कर अकर्मण्य होने के बजाय, आसक्तिरहित होकर निष्काम भाव से कर्म करते हुए इस संसार में सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार आसक्ति भाव से मुक्त होकर कर्म करने से व्यक्ति के कर्मों का लेप नहीं होता, क्योंकि ऐसे कर्म कर्मफल की शृंखला से मुक्त होते हैं। इसी प्रकार गीता में भी माना गया है कि शास्त्रविहित कर्तव्य कर्मों में फल और आसक्ति को त्याग कर समत्व बुद्धि से केवल भवगत् अर्पण कर्म करें, क्योंकि आसक्ति से आवृत होकर ही प्राणी संसार में भ्रमण करता है।

उपरोक्त विवेचन से यह तो पूर्ण स्पष्ट है कि आसक्ति कर्म-संसार का हेतु है, लेकिन आसक्ति भाव भी निर्हेतुक या निर्मूल नहीं होते हैं।

आसक्ति या राग के कारणों के दो भेद किए जा सकते हैं—गौण कारण और मूल कारण। वैशेषिक सूत्र में आसक्ति के गौण कारण का विवेचन करते हुए बताया गया है कि—'सुखद्रागः, तन्मयत्वाच्च, अदृष्टाच्च, जातिविशेषाच्च'[8]।

यहां आसक्ति या राग के चार गौण कारण माने गए हैं—सुख, तन्मयता, अदृष्ट और जाति विशेष। 'सुख' आसक्ति का प्रथम गौण कारण है, क्योंकि माला, चंदन, इत्र और प्रिय भोजन आदि विषयों के उपयोग से उत्पन्न सुखानुभूति के कारण उसी प्रकार की सुखानुभूति या उसकी प्राप्ति के साधनों के प्रति लगाव या आसक्ति उत्पन्न हो जाती है।

'तन्मयत्व' आसक्ति को उत्पन्न करने वाला द्वितीय गौण हेतु है। तन्मयत्व एक प्रकार से आत्ममुग्धता की स्थिति है। इस स्थिति में व्यक्ति जिन विषयों का भोग कर चुका है, उनकी सुखानुभूति के दृढ़तर संस्कार व्यक्ति के मस्तिष्क में घर बना लेते हैं, जिसके परिणामस्वरूप भीतर और बाहर केवल उस वस्तु-विशेष की ही अनुभूति होती है। अर्थात् एक बार विषय-भोग करने के पश्चात् व्यक्ति को उस विशेष भोगित विषय के दृढ़तर संस्कार के कारण सर्वत्र उसी के दर्शन होते हैं। जैसे कामिनी को न प्राप्त कर पाते हुए भी कामातुर व्यक्ति का सर्वत्र कामिनी दर्शन करना। इस प्रकार सांसारिक विषयों के प्रति मन के अत्यधिक तन्मय होने के कारण विषयासक्ति का प्रादुर्भाव होता है। अतः तन्मयता बाह्य विषयों के प्रति एक प्रकार से मनमग्नता या आत्ममुग्धता है जो आसक्ति उत्पत्ति का हेतु बनती है।

आसक्ति उत्पत्ति का तृतीय गौण कारण 'अदृष्ट' है। वैशेषिक सूत्रानुसार 'अदृष्ट' पूर्वजन्म के संस्कार होते हैं और इन पूर्वजन्म के संस्कारों की स्मृति के आधार पर वर्तमान में अनुभव न किए हुए विषयों के प्रति भी आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। अर्थात् तन्मयता वर्तमान जीवन में अनुभूत किए जा चुके सुखों के दृढ़ संस्कार हैं, जबकि अदृष्ट पूर्वजन्म के अनुभवों के दृढ़ संस्कार हैं।

अतः स्पष्ट है कि वर्तमान जीवन में जिन विषयों का अनुभव नहीं किया होता है, फिर भी उनके प्रति व्यक्ति की आसक्ति कराने वाला हेतु अदृष्ट है। उदाहरण के लिए मनुष्य के यौवनकाल में कामिनी के प्रति राग उत्पन्न हो जाना, जबकि व्यक्ति को कामानुभूति नहीं होती है। इसी प्रकार जिन विषयों का सुख-साधन के रूप में अनुभव नहीं होता फिर भी सौंदर्यवश या किसी अन्य

प्रकार से जो आसक्ति भाव या राग उत्पन्न होता है, उसका भी अदृष्ट कारण होता है।

आसक्ति उत्पत्ति का चौथा गौण हेतु 'जाति-विशेष' है। जाति का अर्थ 'जन्म-विशेष' है। उदाहरण के लिए मनुष्य जाति के लोगों को अन्नादि में राग होता है, मृगों का तृण आदि में, ऊंट आदि का कांटों में। इसी प्रकार कबूतरों की कण-भक्षण में प्रीति होती है।[9]

उपरोक्त चारों आसक्ति उत्पन्न कराने वाले गौण कारण हैं। इनके अतिरिक्त भी आसक्ति को उत्पन्न करने वाले अनेक गौण कारण हैं, लेकिन उन सबका समावेश उपर्युक्त चारों कारणों के अंतर्गत हो जाता है। आसक्ति उत्पत्ति के उक्त गौण कारणों के अतिरिक्त आसक्ति उत्पत्ति का मूल कारण अविद्या या अज्ञान को माना गया है। साथ ही आसक्ति भाव को उत्पन्न कराने वाले गौण कारणों का मूल कारण भी अविद्या है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आसक्ति युक्त कर्मों की गहरी जड़ अविद्या में निहित है और इस तथ्य को समस्त भारतीय दार्शनिक विचारधाराओं ने स्वीकार किया है। अविद्या या अज्ञान ही मनुष्य के द्वारा संपादित आसक्तियुक्त कर्मों का मूल है। इस बात की पुष्टि अविद्या शब्द के विश्लेषण द्वारा इस प्रकार होती है—'अविद्या का अर्थ—वह कार्य है जो हमें किसी आसक्ति से, कुछ प्राप्त करने की इच्छा से काम करने के लिए प्रेरित करता है। कुछ प्राप्ति के लिए हमको लालायित करने वाला, हमको प्रेरित करने वाला, हमको एक नहीं, अनेक-अनेक जन्मों तक ले जाने में समर्थ है।'[10]

इस प्रकार अविद्या के कारण जीवात्मा इस मरु-मरीचिका के समान विकारी व मिथ्या जगत में जन्म लेकर शुभाशुभ कर्म करता है और कृतकार्यों के फलभोग हेतु पुन: इस संसार में जन्म लेता है, कर्म करता है और मृत्यु को प्राप्त होता है। अत: अविद्या या अज्ञान के वशीभूत होकर आसक्तियुक्त कर्म करने से जन्म-मरण-रूपी सांसारिक-चक्र चलता रहता है। इसीलिए संसार से मुक्त होने के लिए अविद्या से मुक्त होना आवश्यक है। जिस प्रकार अज्ञान या अविद्या संसार का हेतु है, उसी प्रकार ज्ञान या विद्या संसार से मुक्ति का हेतु है। ज्ञान का तात्पर्य अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान होने से है। इस संदर्भ में उपनिषदों के साथ-साथ समस्त भारतीय दर्शनों का यह विचार है कि वस्तुत: यह आत्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है, लेकिन आत्मा के यथार्थ स्वरूप के अज्ञान के कारण यह जीवात्मा संसार में संचरण करती है। इसीलिए उपनिषदों में कहा जाता है—'अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान ही जिसकी कामना, जिसमें अन्य कोई कामनाएं नहीं रही, फलस्वरूप उसके प्राण नहीं निकलते अर्थात् वह जन्म-मरणरूपी सांसारिक चक्र से मुक्त हो जाता है और वह ब्रह्म में स्थित होता हुआ अर्थात् आनन्दस्वरूप होता हुआ ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।'[11]

इसी संदर्भ में सांख्य दर्शन की भी यह मान्यता है कि पुरुष या आत्मा स्वाभाविक रूप से विशुद्ध चैतन्य-स्वरूप व नित्ययुक्त है, लेकिन अविद्या के कारण वह प्रकृति के विकारों से अपना संबंध बना कर प्रकृति के व्यापारों को अपना व्यापार समझने लगता है, जिसके परिणामस्वरूप वह इस सांसारिक बंधन में बंधता है। जब ज्ञान द्वारा वह जान जाता है कि वह प्रकृति से पृथक है तब वह इस संसार से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन में वैदिक दृष्टि से यह स्पष्ट होता है कि अविद्याजनित आसक्तियुक्त कर्म ही संसार का मूल हेतु है। इसी प्रसंग में वेदेतर विचारधारा (बौद्ध और जैन) पर दृष्टिपात करें तो हम देखते हैं कि बौद्ध दर्शन में आसक्ति के लिए 'तृष्णा' शब्द का प्रयोग किया गया है और संसार को दुख का सागर मानते हुए तृष्णा को उसका मूल हेतु माना है। इसकी पुष्टि के लिए बौद्ध दर्शन में कहा जाता है—'जिस प्रकार जड़ की हानि नहीं हुई है, अर्थात् जड़ बची हुई है तो वृक्ष काटे जाने के पीछे फिर नये सिरे से वृक्ष विशाल रूप से बढ़ सकता है। इसी प्रकार यदि तृष्णा की उत्तेजना पूर्ण रूप से नहीं मरी तो दुख सदा ही नए सिरे से फूट पड़ेगा।'[12]

बौद्ध दर्शन में आसक्ति या तृष्णा के निम्नलिखित तीन प्रकार माने गए हैं— भव तृष्णा, विभव तृष्णा और काम तृष्णा।

संसार में बारंबार जन्म लेने की तृष्णा को भव तृष्णा कहते हैं।

विभव तृष्णा एक प्रकार से संसार के प्रति उच्छेद दृष्टि है। अर्थात् यह आत्मा मरने के बाद नष्ट हो जाती है। इसलिए जब तक सांसारिक जीवन है तब तक सांसारिक विषय-भोगों का उपभोग कर लिया जाए। ऐसी तृष्णा रखना विभव तृष्णा है।

इस प्रकार संसारासक्ति और विभव तृष्णा, दोनों का

हेतु आसक्ति भावना है। संसारासक्ति में आत्मा अमर रहती है। इसलिए संसार में बारंबार जन्म लेने की आसक्ति उत्पन्न होती है। जबकि विभव तृष्णा में मरने के बाद यह आत्मा उच्छिन्न हो जाती है, या समाप्त हो जाती है, इसलिए इस संसार का भरपूर उपभोग करने की आसक्ति उत्पन्न होती है।

षड्विषयों के प्रति आसक्ति भाव रखना काम तृष्णा है। उपरोक्त तीनों प्रकार की तृष्णा-तृप्ति के लिए ही व्यक्ति असद् आचार का अनुगमन करता है।

वैदिक विचारधारा की तरह बौद्ध दर्शन में अविद्या या अज्ञान को ही तृष्णा या आसक्ति का मूल हेतु ठहराया गया है।

इसी संदर्भ में जैन दर्शन में आसक्ति के लिए अध्युपपन, संग, मूर्च्छा, मोह, राग, आवर्त आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। जैन मतानुसार सांसारिक विषय-भोगों के प्रति अत्यधिक लगाव या आसक्ति का परिणाम संसार को बढ़ाने वाला है। आसक्ति से मोह पैदा होता है और मोह के कारण बार-बार जन्म-मरण की प्राप्ति होती है। 'विषयों के प्रति मोह या आसक्ति के कारण प्राणी पुनः-पुनः दलदल में निमग्न रहते हैं।'[13]

तात्पर्य है कि विषयासक्ति ही संसाररूपी दलदल का मूल कारण है। जैन दृष्टि में सांसारिक विषयों के आकर्षण से मोहित हुआ व्यक्ति मूढ़ हो जाता है। इसलिए आसक्ति को एक प्रकार का नशा या उन्माद कहा जाता है। विषयासक्ति जब अत्यधिक तीव्र होती है तो मनुष्य सर्प-कुंडली की तरह उसके जाल में फंस जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के भीतर इससे मुक्त होने की प्रेरणा नहीं जाग सकती, क्योंकि विषयासक्त व्यक्ति की चेतना पागल या उन्मादी व्यक्ति के समान एक-दिशागामी हो जाती है।

इसी क्रम में आसक्ति के प्रकारों का विवेचन करते हुए जैन दर्शन के प्रमुख ग्रंथ आचारांग में बताया गया है कि सामान्यतः आसक्ति के दो प्रकार होते हैं। छंद और अध्युपपन।

इस जगत में पदार्थों के प्रति सामान्य आसक्ति को छंद और तीव्र आसक्ति को अध्युपपन आसक्ति कहा गया है। इसके अतिरिक्त आसक्ति के निम्नलिखित प्रकार भी हो सकते हैं—

1. आहार के प्रति आसक्ति
2. काम के प्रति आसक्ति
3. इंद्रियों के प्रति आसक्ति

आचारांग में आहार के प्रति आसक्ति के लिए 'आमगंध' शब्द का प्रयोग किया गया है। खाद्य पदार्थों के प्रति अत्यधिक लगाव ही आहारासक्ति है। भोजन की आसक्ति से व्यक्ति की स्थिति दयनीय हो जाती है।

'जिस प्रकार भोजन में आसक्त हो मछली जल से बाहर आकर समुद्र के तटवर्ती कंकास घास में फंस जाती है और तड़फ-तडफ कर मर जाती है, उसी प्रकार आहार में आसक्त व्यक्ति की दुर्दशा होती है।'[14]

इसलिए जैन दर्शन में अल्पाहार लेने और भोजनासक्ति के त्याग का निर्देश देते हुए आसक्ति बढ़ाने वाले खाद्य पदार्थों से दूर रहने की बात कही गयी है। क्योंकि आहारासक्ति होने से व्यक्ति अधिक खाता है और अस्वस्थ हो जाता है। दूसरे शब्दों में, भोजन के प्रति अत्यधिक आसक्ति से भोजन ही व्यक्ति का भोजन कर लेता है। इसीलिए व्यक्ति को जीने के लिए खाना चाहिए, खाने के लिए नहीं जीना चाहिए।

'कामासक्ति' का विवेचन करते हुए जैन दर्शन में माना गया है कि—'काम मौलिक मनोवृत्ति है, किंतु काम की अत्यधिक आसक्ति तनाव है। काम को दुर्लंघ्य कहा है।'[15]

कामासक्त हुआ व्यक्ति उपभोग के पदार्थों के प्रति अत्यधिक लालसा रखता है। वह भोग-विलास के विषयों का ही अनवरत चिंतन करता रहता है। कामासक्त व्यक्ति का जीवन विषय-भोगों की पूर्ति करने का उपकरण मात्र बन कर रह जाता है। जबकि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य सांसारिक सुख-भोगों की पूर्ति करने वाला उपकरण बनना नहीं है, बल्कि संसार से मुक्त होकर आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करना जीवन का मूल उद्देश्य है।

जैन दृष्टि से इंद्रियों में विषयों के प्रति लगाव को इंद्रियासक्ति कहा जाता है। जैन विचारधारा के अनुसार इंद्रिय विषयों के प्रति वही व्यक्ति आसक्त होता है, जिसका शरीर के प्रति ममत्व होता है। अतः शरीर की आसक्ति इंद्रियासक्ति को उत्पन्न करती है। अन्य शब्दों में शरीर के प्रति अत्यधिक ममता से व्यक्ति इंद्रियों के विषयों के प्रवाह में बह जाता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन दृष्टि से संसार

के प्रति आसक्ति ही संसार का कारण बनती है। इसीलिए कहा गया है—'आसक्ति या तृष्णा की नदियां स्निग्ध होती हैं। वे प्राणियों के चित्त को प्रसन्न करने वाली होती हैं। जो मनुष्य सुख की खोज करने वाले हैं और इन नदियों के प्रवाह में बहते रहते हैं, वे जन्म और जरा के चक्कर में पड़ते हैं। कामासक्त संचय करते हैं, संचय आसक्ति का सिंचन पाकर बार-बार जन्म-मरण करते हैं।'[16]

आसक्ति के स्वरूप और प्रकारों को स्पष्ट करने के पश्चात् आसक्ति के कारणों की खोज करें तो हम पाते हैं कि जैन विचारधारा में भी आसक्ति का सबसे बड़ा कारण अविद्या या अज्ञान को माना गया है। सामान्यतः हम इस विकारी जगत और इसके पदार्थों को आसक्ति का जनक मानते हैं, लेकिन गंभीरता से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि सांसारिक पदार्थ आसक्ति के जनक नहीं हैं, बल्कि व्यक्ति का अज्ञान ही आसक्ति का मूल हेतु है। अज्ञानी के लिए सांसारिक पदार्थ आसक्ति का कारण बनते हैं जबकि ज्ञानी के लिए वही मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

अज्ञान के साथ-साथ जैन दर्शन में आसक्ति के मूल हेतु के रूप में छंद का विवेचन किया गया है। जैन दृष्टि में छंद का तात्पर्य आंतरिक संस्कार-वृत्ति है। यह आंतरिक वृत्ति ही असंयम की मौलिक कारक है और यही मानवीय इच्छाओं का स्रोत भी है। वस्तुतः इच्छा आसक्ति की संचालक होती है, क्योंकि असंयमित इच्छाओं के कारण ही आसक्ति भावना का विस्तार होता है। इसलिए कहा जा सकता है कि इच्छाएं आसक्ति को संचालित करने वाला यंत्र है। जिस प्रकार किसी यंत्र को आरंभ करते ही उसके परिणाम भी स्वचालित हो जाते हैं उसी प्रकार जिन-जिन विषयों की व्यक्ति इच्छा करता है, उन-उन विषयों के प्रति आसक्ति भावना का विस्तार भी स्वयमेव हो जाता है। 'इस प्रकार इच्छा से आसक्ति, आसक्ति से नवीन आसक्ति की उत्पत्ति, उससे फिर नवीन आसक्ति की उत्पत्ति का क्रम चलता रहता है। आसक्ति से आरंभ (हिंसा), आरंभ (हिंसा) से इच्छा का यह चक्र जारी रहता है।'[17]

यह स्पष्ट है कि जगत के विषय-भोगों की आसक्ति जैन दर्शन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत अहिंसा को खंडित करती है। क्योंकि संसार में जो आसक्ति से बंधा हुआ है, वह आसक्त होकर ही नाना-प्रकार की हिंसा (आरंभ) करता है। जैसा कि स्पष्ट किया गया है कि—'तृष्णाकुल मनुष्य दूसरों के वध, परिताप और परिग्रह के लिए प्रवृत्ति करता है।'[18]

आधुनिक औद्योगिक विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में जैन दृष्टि का आकलन करें तो हम पाते हैं कि मनुष्य के आसक्तियुक्त कर्म एवं सांसारिक लगाव के निरंतर चिंतन के परिणामस्वरूप औद्योगिक सभ्यता का विकास हुआ है और औद्योगिक विकास की इस चरम स्थिति में व्यक्ति एक ओर स्वयं को शारीरिक रूप से अत्यंत सरल, सहज एवं सुविधाजनक महसूस करता है, तो वहीं दूसरी ओर मानसिक रूप से वह अत्यंत असंतुष्ट, अशांत और अतृप्ति की अनुभूति करता है। जैन मतानुसार सांसारिक विषयासक्ति के कारण व्यक्ति में कामना या तृष्णा का प्रादुर्भाव होता है, जिसकी पूर्ति के लिए वह परिग्रह करता है। वस्तुतः जैन दृष्टि से आसक्ति और परिग्रह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, क्योंकि आसक्ति के बिना संग्रह नहीं हो सकता। जिस प्रकार आग में घी डालने से ज्वाला और अधिक प्रज्वलित होती है, ठीक उसी प्रकार परिग्रह को आसक्ति का आधार मिलने पर वह और अधिक भड़क जाता है। इस प्रकार आसक्ति कामना की और कामना परिग्रह की जनक है, क्योंकि व्यक्ति कामनाओं की तृप्ति हेतु ही अधिकाधिक भौतिक संसाधनों के संग्रह का प्रयास करता है। उनकी प्राप्ति के लिए व्यक्ति असत्य, चोरी, लूट, धोखा, रिश्वत आदि दुराचार का सहारा लेता है। फिर भी यदि उसकी कामनाएं पूर्ण नहीं होती हैं तो व्यक्ति हिंसा करने के लिए प्रेरित हो जाता है। इस आसक्ति से ही औद्योगिक विचारधारा का सूत्रपात होता है और इस प्रकार की विचारधारा से व्यक्ति अपने जीवन में आनंदानुभूति करने के बजाय, अपने अस्तित्व से अलगाव की अनुभूति करता है। जिससे मनुष्य मनुष्यत्व से पतित होकर एक-दूसरे पर मानसिक व शारीरिक अत्याचार करने पर उतारू हो जाता है।

स्पष्ट है कि आसक्ति वृत्ति के कारण परिग्रह का जन्म होता है और संग्रह की मनोवृत्ति संघर्ष को जन्म देती है, जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक औद्योगिक युग में बेरोजगारी, गरीबी, शोषण, अत्याचार, भ्रष्टाचार और साम्राज्यवादी मनोवृत्ति का विस्तार होता है।

इस प्रकार जैन दृष्टि से सामाजिक असमत्व आसक्ति

या तृष्णा के ही दुखद परिणाम हैं। अत: जैन दृष्टि से यह पुष्ट होता है कि आधुनिक औद्योगिक विचारधारा का कारण मनुष्य की आसक्ति वृत्ति है और समस्त प्रकार के असद् आचार का आधार भी मनुष्य की आसक्ति वृत्ति ही है। असद् आचार के परिणामस्वरूप ही परिग्रहवाद पनपता है और परिग्रह के लिए ही हिंसा की जाती है।

इस आधुनिक भौतिकवादी विचारधारा के मानव-समाज में हिंसात्मक प्रवृत्ति पारिवारिक स्तर से लेकर अंतरराष्ट्रीय स्तर तक सर्वव्याप्त है। हिंसात्मक•प्रवृत्ति के कारण ही मनुष्य-समाज एक-दूसरे पर अत्याचार कर रहा है। अत: आसक्तियुक्त विचारधारा ही मानवीय वृत्ति के अस्त और पाशविक वृत्ति के उदय का कारण है।

पाशविक वृत्ति के जागरण के फलस्वरूप आधुनिक युग में उग्रवाद का जन्म होता है, जिसके भयंकर और विनाशकारी परिणाम हम नित्य-प्रति देखते, सुनते और महसूस करते हैं। वस्तुत: उग्रवाद या आतंकवाद धर्मासक्ति का परिणाम है। इस प्रकार जैन दृष्टि से हम कह सकते हैं कि विषयासक्ति परमाणु बम से अधिक विनाशक बम है। परमाणु बम से जहां व्यक्ति की हत्या होती है, वहीं विषयासक्ति की उग्र ज्वाला व्यक्तित्व को ही मार डालती है। परमाणु हथियारों के विस्तार से समाज में मनुष्य की हानि होती है, लेकिन विषयासक्ति के विस्तार से मनुष्यता की हानि होती है। अत: मानवीय जीवन में सदाचार के भटकाव और असद् आचार के अनुभाव का मूल हेतु आसक्तियुक्त विचारधारा है।

इस प्रकार वैदिक और वेदेतर, दोनों ही दृष्टियों से यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार महामेघ से सिंचन प्राप्त करके पृथ्वी पर बीज अंकुरित होकर पेड़ बनता है, उसी प्रकार अविद्या के वशीभूत होकर आसक्तियुक्त कर्म करने पर जीवात्मा बारंबार इस संसार में संसरण करके संसार-चक्र को चलायमान रखता है। ❖

संदर्भ

1. शुकदेव शास्त्री : भारतीय नीतिशास्त्र, पृ.सं.70
2. शशिलेखा मिश्र : भारतीय दर्शन में कर्मवाद और पुनर्जन्म, पृ.सं. 46
3. रामगोपाल मोहता : गीता का व्यवहार दर्शन, पृ.सं. 396
4. वृहदारण्यक उपनिषद, 4/4/10
5. मुण्डक उपनिषद, 3/2/2
6. शशिलेखा मिश्र : भारतीय दर्शन में कर्मवाद और पुनर्जन्म, पृ.सं. 38
7. ईशोपनिषद, सूत्र 2
8. वैशेषिक, सूत्र 6/2/10-13
9. शुकदेव शास्त्री : भारतीय नीतिशास्त्र, पृ.सं. 67
10. विष्णुकान्त शास्त्री : ज्ञान और कर्म, पृ.सं. 178
11. वृहदारण्यक उपनिषद, 4/4/6
12. राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, भाग-1, पृ.सं. 385
13. आचारांग सूत्र, 2/33
14. डॉ. साध्वी शुभ्रयशा : आचारांग और महावीर, पृ.सं. 135
15. आचारांग सूत्र, 2/121
16. आचारांग सूत्र, 3/31
17. डॉ. साध्वी शुभ्रयशा : आचारांग और महावीर, पृ.सं. 137
18. आचारांग सूत्र, 3/43 ❖❖

घर–परिवार और मित्र–परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक–नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म–दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन *भारती* एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन *भारती* पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

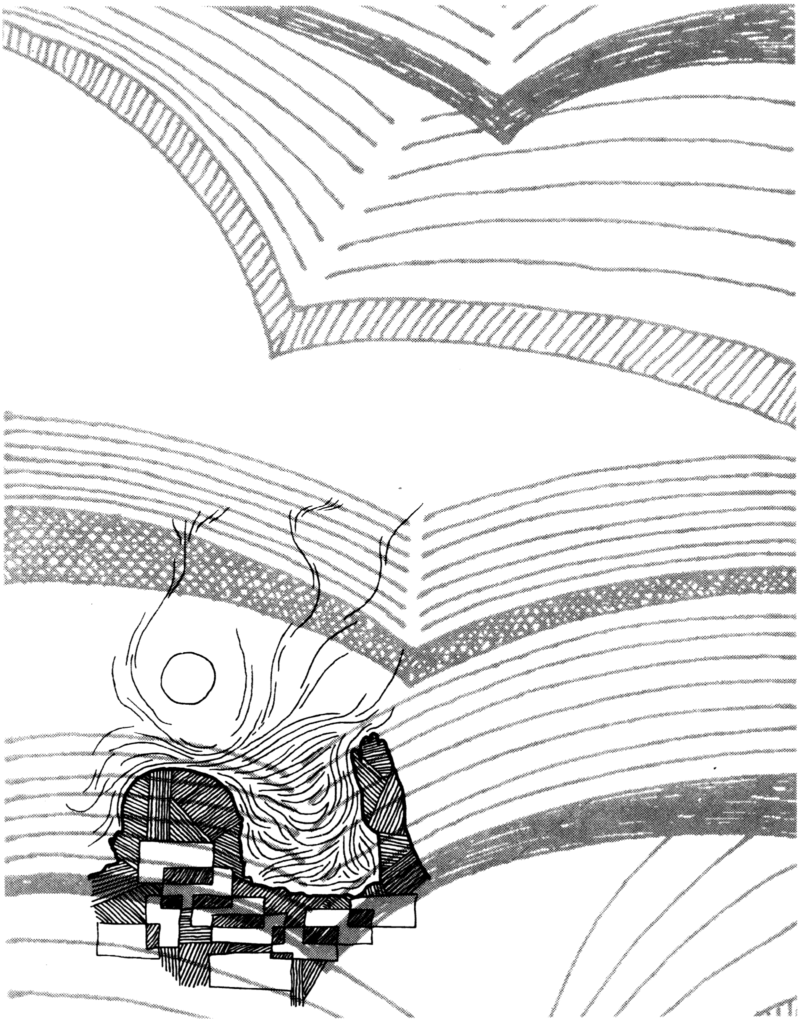

अनुभूति

भाव कर्म में जहां साम्य हो संतत,
जग-जीवन में हों विचार जन के रत,
ज्ञान-वृद्ध, निष्क्रिय न जहां मानव मन,
मृत आदर्श न बंधन, सक्रिय जीवन

—सुमित्रानंदन पंत

जैसे बिना अनुभव के ज्ञान पंगु है वैसे ही बिना वाद के विवाद अर्थशून्य है। एक तरह से ज्ञान भी अनुभवपूर्वक होने पर ही फलवान होता है, मुक्ति दिलाता है। अनुभवशून्य ज्ञान तो बंधन का कारण बनता है। उसी तरह जो व्यक्ति अपनी और अपनी जाति की मुक्ति की बात सोचता है उसे पहले मनुष्य की मुक्ति के पूर्व-साधनों और सिद्धियों का अनुभव प्राप्त करना ही होता है। इसी अनुभव के बल पर वह नए मुक्ति-पथ का साक्षात्कार या ज्ञान प्राप्त कर पाता है। जैसे भाषा में लक्षणा भी प्रायः किसी-न-किसी रूढ़ि को लेकर चलती है वैसे ही ज्ञान के क्षेत्र में भी नए लक्ष्य बिना पूर्व-अनुभवों के संकेत के प्राप्त नहीं किए जा सकते।

सत्य अनुसंधित्सा

विद्यानिवास मिश्र

कालिदास का वसंत-वर्णन इसी से प्रारंभ होता है—

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवा स्तदनुषट्पदकोकिलकूजितम्।

अर्थात् पहले फूल आते हैं, तब पल्लव आते हैं, तब भौंरे आते हैं और तब कोयल बोलती है। पहले कोई भी सिद्धांत हो, कोई भी मत हो, पूर्ण विकसित रूप में सामने आता है, उसकी कीर्ति का सौरभ दूर-दूर तक अनुकूल पवन द्वारा बगराया जाता है, तब उसमें नए विचारों की नई कोंपलें भी निकलती हैं। इन नई कोंपलों के सघन पत्रजाल में नए पक्षी कल-कूजन करने आते हैं। जब फूल खिलते हैं तो पेड़ पत्रहीन हो जाते हैं। पेड़ की प्राचीनता फूलों के अनुरूप ही नवीन रूप धारण करने के लिए विकल हो जाती है।

जब नया पथ मनुष्य को मुक्ति देने के लिए आगे आता है तो मनुष्य के प्राचीन संस्कार भी पुनर्जीवन प्राप्त करने के लिए झर-झर कर नए संस्कारों को पल्लवित करने के लिए उत्सुक हो जाते हैं। जो नया विचार देता है, जो नए संस्कार की रचना करता है और जो नए ऋतु का मंगल-गीत गाने के लिए आता है वह पहले अपने परिसर को कुसुमित और सुरभित कर के आता है। भगवान कृष्ण हों, बुद्ध हों, शंकराचार्य हों, तुलसीदास हों, समर्थ रामदास हों, तिलक हों—प्रत्येक विचारक ने जब-जब मनुष्य को उन्नयन की नई भूमिका दी, तब-तब उसने पहले अपनी परंपरा को पूर्ण रूप में अपने मानस के उपवन में पुष्पित किया। उसकी सुरभि से उसने स्वयं को सुवासित किया और उसके दिगंतव्यापी प्रभाव को अपने अंतर्मन में भरा, और तब जाकर उस वृक्ष में नए पल्लव, नई शोभा, नए गुंजार और नए फल दिए। दर्शन के क्षेत्र में दार्शनिकों ने जिसे पूर्वपक्ष कहा, उसके साथ सबसे अधिक न्याय किया। इन्होंने पूर्वपक्ष की स्थापना में अपने मत के पूर्वराग से अपने को मुक्त रखा। वेदांत, न्याय, मीमांसा या जैन व बौद्ध दर्शनों से हमें इस उदार परंपरा की प्रेरणा आज भी मिलती है कि हम कोई भी बात अपनी ओर से जोड़ें, इसके पहले जहां तक वह बात जिस रूप में, जिस बल के साथ कही जा चुकी है, स्थापित की जा चुकी है, उसी रूप में उसे अपना कर तब अपनी बात कहने की कोशिश करें।

कुछ लोग इसी को सत्य की अनुसंधित्सा का मार्ग कहते हैं। कुछ विशिष्ट लोगों का मत है कि भारतीय संस्कृति के मूल में शिव की खोज या समरसता, समानुपात, संतुलन, समन्वय आदि में सौंदर्य की खोज से कहीं अधिक सत्य की खोज का उपादान है। सत्य को जब-जब अन्वेषकों ने अवरुद्ध देखा, उसके जाज्वल्यमान मुख पर हिरण्यमय पात्र का ढक्कन देखा, तब-तब उन्होंने इसके लिए प्रयत्न किया कि वह ढक्कन खुले, सत्य को गति मिले, सत्य को ऋतु का सहारा मिले; और सत्य नदी की धारा का अनुगामी नहीं, बल्कि अग्रगामी बने।

और इसीलिए उसके लिए सत्य चिर नवीन होने के साथ-साथ सनातन भी है, उसी प्रकार, जिस प्रकार काशी का गंगाजल गंगोत्री के गंगाजल से विलग होने के साथ-साथ अविलग भी है।

देखा यह भी जाता है कि अपनी बात नए ढंग से कहने का दुस्साहस तो लोग करते हैं, परंतु वे उस सत्य के प्रति अकृतज्ञ हो जाते हैं जिसने उनको नई बात कहने का संकेत किया और साहस दिया। यही अकृतज्ञता उन्हें छिन्न-सूत्र बना देती है, अविनयशील बना देती है और प्रायः इसीलिए उन्हें स्वयं की नवीनताओं का बंदी बना देती है। वे अपनी नवीनता से इस तरह घिर जाते हैं, जिस तरह रेशम का कीड़ा अपने ही बनाए हुए रेशम के जाल से। नई सृष्टि करने का अभिमान उन्हें जीवन्मृत बना देता है।

इसका कारण क्या है? इसका कारण है विशद दृष्टि का अभाव; इसका कारण है मानसिक चित्रपट की संकीर्णता, जिस पर समग्र रूप में सत्य उतर नहीं पाता। सत्य बराबर अंश-सत्य के रूप में आता है, अंश-सत्य के रूप में उस चित्रपट से वह बाहर विकीर्ण होता है। विकीर्ण होने पर जैसे टूटे हुए कांच के टुकड़े में शुभ्र ज्योति रंगीन होकर प्रतिसंक्रांत होती है, उसी तरह उज्ज्वल सत्य बहुरंगी बन कर सामने आता है। जो दूसरे की बात समझने की कोशिश नहीं करेगा, वह अपनी बात समझाने की आशा कैसे कर सकता है! जो मनुष्य की अब तक की यात्रा को नकार कर के अपनी जीवन-यात्रा प्रारंभ करेगा, वह कैसे इस बात की अपेक्षा कर सकता है कि उसकी बात भी नकारी न जाए! जीवन को जिसने निषेध-रूप में देखा, वह अपने को विधि-रूप में खड़ा करने का प्रयत्न कैसे कर सकता है! अपने को विज्ञान के प्रवाह के रूप में जब तक हम नहीं देख पाते तब तक हम कैसे यह विश्वास कर सकते हैं कि हम दूसरों को आगे बढ़ाएंगे!

इसीलिए मैंने कहा : पहले फूल तब पात, पहले वाद फिर विवाद। जिस चीज का हमें खंडन करना हो, वह चीज जब तक हमारे सामने स्पष्ट रूप में न हो, तब तक उसका खंडन कोई माने नहीं रखता। खंडन के लिए खंडन तर्क के लिए भोजन हो सकता है, पर न तो अपने मन को उससे तृप्ति मिलती है और न विश्व को उससे कुछ लाभ होता है। जिन लोगों ने—'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः'—कहा उनके सामने सिद्धांत रुचिकर हो-न-हो, उसके प्रति आदर रखने की भावना थी। वे यह भली-भांति समझते थे कि अपने को समग्र रूप में वह तभी रख सकता है जब वे जिनसे प्रभावित होकर; प्रेरित होकर, या उद्दीपित होकर, विचारों की धरती में नए छेव लगाने आए हों, उनकी हर एक चोट को और उनकी कमाई हुई धरती को उन्हें अच्छी तरह से नापना होगा। भगवान कृष्ण ने गीता में जब यह कहा कि जो जानने वाला है उसके लिए सकाम कर्म की घोषणा करने वाली वाणी का महत्त्व उतना ही है जितना नदी के तीर पर रहने वाले व्यक्ति के लिए छोटी-सी कुइयां का, जिसमें से पानी बड़ी मुश्किल से निकल पाता है। तब उनका तात्पर्य यह न था कि वह वाणी व्यर्थ है, बल्कि यह कि वह वाणी अपेक्षाकृत कम महत्त्व रखती है। एक बड़े आशय के सामने वह छोटा-सा आशय है। बुद्ध ने भी जब चार आर्य-सत्यों की व्याख्या दी तब उन्होंने उपनिषद् के मार्ग का प्रत्याख्यान नहीं किया, केवल नैतिक मूल्यों पर अपना विशेष बल दिया। शंकराचार्य ने जब नर में नारायण का आवाहन किया और—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'—की उद्घोषणा की तब उन्होंने न केवल उपनिषदों के आत्मवाद का प्रतिपादन किया, बल्कि उस आत्मवाद में बौद्धों के विज्ञानवाद का सिंचन देकर विश्व-सत्य को नई प्रतिष्ठा दी। गोस्वामी तुलसीदास ने भी जब मानव-मर्यादा को आकार देने के लिए रामचरित की सृष्टि की तो उन्होंने कर्म, भक्ति और ज्ञान की समस्त उपलब्धियों को समेट कर, निगम, आगम की बातें समझ कर, आस्तिक और नास्तिक दर्शनों की अतल गहराई में पैठ कर और उस अतल गहराई से मुक्ताओं को निकाल कर रामचरित के तागे में गूंथने की कोशिश की। मोती नए नहीं थे, तागा नया नहीं था, मोती में तागा बींधकर डालने की युक्ति भी नई न थी—पर, माला नई थी और वह माला अद्वितीय थी। वैसी माला पहले कभी बनी नहीं और आगे भी उसका कोई सानी न हुआ। किसी का महत्त्व उन्होंने कम नहीं किया, पर उनका महत्त्व अपने-आप इतना बढ़ा कि शिव की साधना में उनका ग्रंथ सबसे सुलभ संबल बन गया।

तिलक ने जब जीवन-क्षेत्र में प्रवेश किया तो उनके सामने गीता से लेकर तुलसीदास, और तुलसीदास से भी आगे समर्थ रामदास की महान परंपरा थी। इस परंपरा में उनकी निष्ठा थी, पर अपने काल और अपने देश के लिए उन्हें यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि इस परंपरा को नया प्रवाह दिया जाए। उन्होंने गीता जैसे प्राचीन ग्रंथ को लिया और कहने को तो उन्होंने इसकी टीका लिखी, पर

शेष पृष्ठ 37 पर

समाधिमरण मृत्यु की कामना नहीं, वरन् देहासक्ति का त्याग है। मृत्यु की आकांक्षा और जीवन की आकांक्षा—दोनों दूषण हैं। यह न जीवन से पलायन है और न मृत्यु से भयभीत होकर मरना है, अपितु शरीर और इंद्रियों की वृद्धावस्था में शिथिलता आ जाने व मृत्यु को सन्निकट अनुभव करने पर उसका अनुग्रहपूर्वक आमंत्रण है। जबकि आत्महत्या क्रोध के वशीभूत की जाती है या उसके सम्मान व हितों को गहरी (असहनीय) चोट पहुंचने पर या जीवन नैराश्य की स्थिति में की जाती है। आत्महत्या चित्त की संवेगिक अवस्था में होती है, जबकि समाधिमरण चित्त की शांत व समत्व अवस्था में। समाधिमरण में संयम रक्षा के विकल्प को चुन कर मृत्यु का साहस व निर्भयतापूर्वक सामना किया जाता है, जबकि आत्महत्या—असमय में मृत्यु का वरण करना है।

समाधिमरण : जीवन-मृत्यु से अनासक्ति

निहालचंद जैन

जीवन और मृत्यु के सहसंबंध को रेखांकित करते हुए साने गुरुजी ने एक जगह लिखा—'रात्रि में से ही आखिर अरुणोदय होता है, और अरुणोदय में ही रात्रि का निर्माण होता है। जीवन में मृत्यु का फल लगता है और मृत्यु में जीवन का।' क्या यह सच नहीं कि जन्म के साथ जीवन का कमल खिलता है और मृत्यु के अंधकार में इसकी पांखुड़ी संपुट हो जाती है? जन्म और मृत्यु का यह अनादि प्रवाह तब तक है जब तक जीव की मुक्ति नहीं हो जाती। उनके लिए मृत्यु मंगल महोत्सव बन जाती है, जो जीवन के सौंदर्य और शिवत्व को पहचान लेते हैं।

जीवन और मृत्यु में अनासक्ति

संसार विषय-भोग पदार्थों से भरा पड़ा है। भोग और इच्छा, दोनों साथ-साथ चलते हैं। गणितीय सूत्र में कहें तो इच्छा, भोग के समानुपाती होती है। जितना ज्ञेयों को ज्ञान का विषय बनाते जाएंगे—वह ज्ञान मुक्ति नहीं, संसार का सृजन करता जाएगा। ज्ञेय यानी पदार्थों के भोग से आकांक्षा और इच्छा का ग्राफ ऊंचा उठता जाता है। आसक्ति सेतु है—भोग और इच्छा के बीच। जीवन में जीने की कला भोग से नहीं, अपितु अनासक्ति से प्रांजल और प्रबुद्ध बनाई जा सकती है। अनासक्ति मृत्यु को समाधिमरण बना देती है। जिनका जीवन साधना और संयम के सम्यक् परिपालन में व्यतीत होता है, उनकी मृत्यु भयकारक नहीं होती। अनासक्ति का साधक—मृत्यु को जीवन की परीक्षा मानता है। वह मृत्यु के पैमाने से जीवन की सार्थकता मापता है। अवसादपूर्ण जीवन जीने वाले मरते समय रोते हैं, लेकिन जिन्होंने जीवन आनंद, अनुग्रह और अनासक्ति में जीया, वे मुस्कराते हुए मरते हैं। कबीर इसके लिए कहते हैं—**ज्यों की त्यों धर दीन्ही चदरिया**। मुनि क्षमासागर ऐसे दार्शनिक जैन संत हैं, जिन्होंने 'मौत' को अपनी कविताओं में गाया है और अपने चिंतन के नए अंदाज में देखा है—

जीवन के कागज पर/मौत की स्याही गिर गई/
बात आई-गई/हो गई
कुछ धब्बे अभी भी पड़े हैं
सफेदी/जाने कहां चली गई।

जीवन के प्रति आस्था के आयाम

ओशो कहते हैं—'धर्म की मूल जिज्ञासा है कि जीवन में प्रज्ञा उपलब्ध हो। हमारी आत्मा में जो ज्ञान शक्ति है, जब वह विषय-मुक्त हो जाती है तो प्रज्ञा बन जाती है। विषय के अभाव में, स्वयं के द्वारा स्वयं का

ज्ञान प्रज्ञा है। जीवन में मनुष्य की चेतना की सबसे बड़ी क्रांति है—ज्ञान का स्वयं पर लौटना। पदार्थों की जानकारी या दूसरों के बारे में जान लेना जीवन की सार्थकता नहीं है। जीवन की सार्थकता है स्वयं को उद्घाटित करना। यही है—जीवन की समाधि।' जिसका जीवन ऐसी समाधि को उपलब्ध कर लेता है, उसकी मृत्यु समाधिमरण बन जाती है। जीवन का साध्य कहें या काव्य है—प्रज्ञा को पा लेना, जिसका साधन है समाधि और प्रेम कहें या अहिंसा है उस सिद्धि का—परिणाम। अहिंसा 'सत्त्वेषु मैत्री' की वैश्विक भावना से फलित होती है। अंतस में प्रज्ञा का प्रकाश हो तो बाहर अहिंसा का आकाश फैलता दिखाई देता है। श्रमण-साधु का संपूर्ण जीवन, अहिंसा के परिपालन में पूर्णाहुति के साथ बीतता है। वही अहिंसा समत्व की साधना के साथ संल्लेखना के द्वारा मृत्यु को अमृत बना देती है। संल्लेखना जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है, जिसका इस लेख में आगे विस्तार से विवेचन करेंगे।

मृत्यु के लिए नए प्रतीक

मृत्यु के लिए साने गुरुजी ने एक रूपक दिया। मृत्यु का अर्थ है—'मां की गोद में सो जाना'। बच्चे की इच्छा न होने पर भी, मां जब देखती है कि बच्चा थक गया है, तो उसके सभी खिलौने एक ओर रख कर अपनी गोद में सुला लेती है। मां की ऊष्मा पाकर, बच्चा ताजगी प्राप्त करता है और सुबह दुगुने उत्साह से खेलने में लग जाता है। जो मौत से डरते हैं, वे मौत आने के पहले ही मर जाते हैं और जो मृत्यु के स्वागत में निर्भय प्रतीक्षारत हैं, वे मर कर भी जिंदा रहते हैं—मुनि क्षमासागरजी एक कविता में कहते हैं—

मौत ने आकर/उससे पूछा—
मेरे आने के पहिले, वह क्या करता रहा?
उसने कहा—आपके स्वागत में
पूरे होश और जोश में जीता रहा।
सुना है—मौत ने उसे प्रणाम किया
और कहा—अच्छा जियो/अलविदा।

जैन संत क्षमासागरजी मौत को जीवन का मूल्यांकन करने वाली कसौटी मानते हैं—

जीवन भर/मौत हमारा इम्तिहान लेती है
एक-एक सांस/गिन गिन कर लेती और देती है।
हमने जीवन भर/क्या खोया क्या पाया?
इसका लेखा-जोखा
अंत में आकर यही तो लेती है।

देशबंधुदास ने मृत्यु पर एक बड़ी सुंदर कविता लिखी थी, भाव कुछ इस प्रकार हैं—'प्रभो। मेरे

अनशन : मोह विलय की साधना

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

महावीर ने मृत्यु का एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया—पंडित-मरण, बाल-मरण और बाल-पंडित-मरण। पंडित-मरण की तुलना सात्विक गुण से की जा सकती है। बाल-पंडित-मरण की तुलना रजोगुण से और बाल-मरण की तुलना तमोगुण से की जा सकती है। महावीर ने कहा—व्यक्ति बाल-मरण से न मरे। कोई बच्चा जन्मता है तो वह बाल अवस्था में ही जन्मता है किंतु वह बाल-मरण—असमाधिमरण से न मरे। दूसरी भाषा में कहें तो अकाम-मरण से मरना बाल-मरण है। सकाम-मरण पंडित-मरण है। यदि महावीर का यह दर्शन समग्रता से समझ में आए तो उनका पूरा दर्शन समझ में आ जाएगा। •

बहुत लोग भावुकतावश आत्मदाह अथवा सती-प्रथा जैसी प्रवृत्ति और अनशन को एक तुला से तोलना चाहते हैं। उन्हें एक तराजू से तोला जा सकता है यदि अनशन भी आवेश से प्रेरित हो। जो अनशन समाधि-मरण की पृष्ठभूमि में किया जाता है, उसमें आवेश के लिए कहीं अवकाश नहीं होता। वह नितांत अभय की साधना है। मनुष्य के मन में सबसे बड़ा भय मृत्यु का होता है। भय एक आवेश है। क्रोध, लोभ और अहंकार का भी आवेश होता है। ये आवेश भय के आवेश को दबा देते हैं, तब आदमी आकस्मिक ढंग से जहर आदि खा कर मर सकता है। किंतु, वह मृत्यु के भय से मुक्त हो, अभय की साधना नहीं कर सकता। अभय की साधना वही कर सकता है जिसका शरीर के प्रति मोह विलीन हो जाता है। भगवान महावीर की भाषा में मोह-विलय की साधना ही अहिंसा है। •

ज्ञानाभिमान की गठरी मेरे सिर से उतार ले। मेरी पुस्तकों की गठरी मेरे कंधों से नीचे उतार ले। मैं अपने निर्वाणोन्मुख दीपक को प्रज्वलित करने के लिए तेरे द्वार आया हूं। अब मुझे आत्म वैभव का अनंत राज्य दिखाई दे रहा है।

इन्हीं भावों को मुनि क्षमासागरजी अपनी कविता में इस प्रकार रूपायित करते हैं—

मेरे जाने के बाद/लोग आएं।
अरथी संभालें/कांधे बदलें।
इससे पहले मुझे खुद संभलना और बदल जाना है।
लोग आएं/मेरी जली देह की राख उठाएं।
या कहीं सिराएं/
इससे पहले/मुझे अपने अहंकार को जलाना/
अपने को, अपने में सिराना-डुबोना है
और, और ऊंचे उठना है।

कबीर कहते हैं—

कर ले सिंगार चतुर अलबेली, साजन के घर जाना होगा।
मिट्टी ओढ़ावन, मिट्टी बिछावन, मिट्टी में मिल जाना होगा।

हे सयानी आत्मन! तू सद्‌गुणों के आभूषणों से अपना श्रृंगार कर ले। तेरा साजन परमात्मा है, जहां जाना है। देह माटी है। देह के पोषण में माटी को ओढ़ता-बिछाता रहा और अंत में इस देह को माटी में विलय हो जाना है। अस्तु, जीवन का निर्माण किए बिना, इसका निर्वाण नहीं होगा।

जीवन और मृत्यु को सम्हालने का सूत्र

जीवन के संबंध में संत निसर्गदत्त महाराज (महाराष्ट्र 1897-1981) ने वर्तमान को सम्हालने की सलाह दी। वर्तमान वास्तविक है, भूतकाल केवल याद है और भविष्य कल्पना में है। 'मैं' हमेशा वर्तमान में उपस्थित है। मस्तिष्क को 'मैं हूं' की अनुभूति पर केंद्रित करें। शरीर के प्रति दृष्टिकोण बदलें—न इसे दुख दें, न ज्यादा लाड़-प्यार। कामनारहित होना जीवन का सबसे बड़ा आनंद है। सुख प्राप्त करने की लालसा और दुख का डर 'स्व-बोध' के लिए सबसे बड़ी बाधा है। अतः 'स्व' को प्राप्त करने के लिए सुख के पीछे दौड़ लगाना बंद करने से दुख का भी अंत हो जाएगा। जीवन निर्माण का सूत्र है—**अंदर झांको और इसमें विश्वास करो।**

स्व-बोध की दूसरी बाधा है—हमारे विचारों की सातत्यता। हम विचारों से मुक्त नहीं हो पाते। विचार करना एक बीमारी बन गई है। मस्तिष्क सदैव विचारों के स्वागत के लिए आतुर है। एक समाप्त होने को होता है कि दूसरा उत्पन्न हो जाता है। विचारों से मुक्त होने के लिए, शांत मन से उनके मात्र द्रष्टा बनें, उनके साथ तन्मय न हों। यहीं से स्व-बोध बढ़ने लगेगा।

मन की मृत्यु है निर्वाण यानी परम समाधि

शरीर और आत्मा का सेतु मन है। मन ही शरीर को जोड़े हुए है। अगर यह सेतु टूट जाए तो शरीर अलग और आत्मा अलग की अनुभूति घटित होती है। जैन दर्शन में इसे 'भेद विज्ञान' कहा जाता है। जिससे यह बोध प्राप्त कर लिया जाता है कि—'मैं शरीर से अलग और मन से शून्य हूं, उसने परम समाधि या परम कैवल्य को प्राप्त कर लिया है।' क्योंकि मन की मृत्यु हो जाना ही परम समाधि है। सुख-दुख—यह मन का व्यापार है। अभिलाषा और कामना—ये मन के कार्य हैं। मन की मृत्यु यानी सुख-दुख से विमुक्ति और कामना से मुक्त हो जाना है। ऐसा पुरुष ही सिद्ध है, बुद्ध है, महावीर है। मुक्ति या निर्वाण एक स्थिति है, जहां आत्मा सभी बाह्य कारकों, जैसे मन, मस्तिष्क, संस्कार, कामना, अहं आदि से पूर्णतः मुक्त हो जाता है। ऐसे मुक्त परम पुरुष की मृत्यु निर्वाण कहलाती है।

संल्लेखना : आध्यात्मिक महोत्सव

संसार से विरक्त संवेगी पुरुष मृत्यु को भयकारी नहीं मानते। वे मानते हैं कि मृत्यु से जीर्णशीर्ण शरीररूपी पिंजरे से आत्मा को छुटकारा मिल रहा है। मृत्यु तो वृक्ष का पतझड़ है, जो नव-पल्लवन के लिए आतुर है। जैन श्रमण और श्रावक अपना मरण सुधारने के लिए 'संल्लेखना' ग्रहण करते हैं जो जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण शब्द है, जिसका अर्थ है—**सम्यक्कायकषाय लेखना संल्लेखना**—अर्थात् भली प्रकार से काय और कषाय—दोनों को कृश करना संल्लेखना है। यह संल्लेखना कब धारण करना चाहिए, इस संबंध में आचार्य समंतभद्र स्वामी ने इसका काल और प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रूजायां च निः प्रतीकारे।
धर्माय तनु विमोचन माहुः, संल्लेखनामार्याः।।

—रत्नकरण्ड 5-1

अर्थात् अपरिहार्य उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग की अवस्था में आत्मधर्म की रक्षा के लिए जो शरीर का त्याग विवेक, बुद्धि और निर्मोहभाव से किया जाता है, वह संल्लेखना है। इसे समत्व की साधना भी कहा जा सकता है। जैन शास्त्रों में शरीर त्याग तीन तरह से बताया है—(1) च्युत (2) च्यावित (3) त्यक्त।

(1) **च्युत**—आयुपूर्ण होने पर शरीर का स्वतः छूट जाना—च्युत त्याग (मरण) कहलाता है।

(2) **च्यावित**—विष-भक्षण, धातुक्षय, रक्तक्षय, अग्निदाह, जल प्रवेश, गिरिपतन आदि निमित्त कारणों से शरीर को छोड़ा जाना च्यावित (मरण) कहा जाता है।

(3) **त्यक्त**—रोग की असाध्यता और मरण की निकटता जान कर विवेक, समता और वीतराग परिणामों से शरीर को छोड़ना त्यक्त त्याग (मरण) है। इसे समाधिमरण, संन्यासमरण, पंडितमरण या संल्लेखना मरण कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है—(1) भक्त प्रत्याख्यान, (2) इंगिनी मरण और (3) प्रायोपगमन।

भक्त प्रत्याख्यान—जिस शरीर त्याग में अन्न-पान धीरे-धीरे कम करते हुए छोड़ा जाता है। इसका काल प्रमाण न्यूनतम अंतर्मुहूर्त और अधिकतम बारह वर्ष है।

इंगिनी मरण—इसमें संल्लेखनाधारी (क्षपक) अपने शरीर की सेवा-परिचर्या स्वयं तो करता है, परंतु दूसरों से नहीं कराता है।

प्रायोपगमन—इसमें क्षपक न स्वयं अपनी सहायता लेता है और न दूसरों की। क्षपक का पूर्ण लक्ष्य, अपनी आत्मा की ओर होता है और सदैव आत्मा के ध्यान में निरत रहता है।

जैनाचार्य शिवार्य ने संल्लेखना और समाधिमरण पर एक प्रसिद्ध प्राकृत-ग्रंथ **भगवती आराधना** का प्रणयन किया है, जिसमें विशिष्ट पांच प्रकार के मरणों का वर्णन है। जिनमें से तीन प्रकार के मरण प्रशंसनीय व श्रेष्ठ माने गए हैं। वे हैं—(1) पंडित-पंडित-मरण (2) पंडित-मरण और (3) बाल-पंडित-मरण। केवली भगवान का निर्वाण गमन पंडित-पंडित-मरण है। 28 मूलगुणधारी साधु-मुनियों का मरण पंडित मरण है। देशव्रती श्रावक का मरण बाल-पंडित-मरण है, जबकि अविरत सम्यक्दृष्टि का मरण—बाल-मरण और मिथ्यादृष्टि का मरण—बाल-बाल-मरण होता है। संल्लेखना (समाधिमरण) के जो तीन भेद ऊपर कहे गए हैं, वे पंडित-मरण के अंतर्गत हैं। आचार्य शिवार्य ने संल्लेखना के करने, कराने, देखने, अनुमोदना करने और उसमें सहायक होने वालों को पुण्यशाली बतलाया है। संल्लेखना जैन दर्शन की एक विशेष देन है, जिसमें पारलौकिक एवं आध्यात्मिक जीवन को उज्ज्वलतम बनाने का लक्ष्य निहित है। यह आत्म-सुधार और आत्म-संरक्षण का अंतिम, विचारपूर्ण प्रयत्न है।

समाधिमरण को आत्महत्या कहना नितांत गलत एवं अज्ञानता है।

समाधिमरण और आत्महत्या

समाधिमरण मृत्यु की कामना नहीं, वरन् देहासक्ति का त्याग है। मृत्यु की आकांक्षा और जीवन की आकांक्षा—दोनों दूषण हैं। यह न जीवन से पलायन है और न मृत्यु से भयभीत होकर मरना है, अपितु शरीर और इंद्रियों की वृद्धावस्था में शिथिलता आ जाने व मृत्यु को सन्निकट अनुभव करने पर उसका अनुग्रहपूर्वक आमंत्रण है। जबकि आत्महत्या क्रोध के वशीभूत की जाती है या उसके सम्मान व हितों को गहरी (असहनीय) चोट पहुंचने पर या जीवन नैराश्य की स्थिति में की जाती है। आत्महत्या चित्त की सांवेगिक अवस्था में होती है, जबकि समाधिमरण चित्त की शांत व समत्व अवस्था में। समाधिमरण में संयम रक्षा के विकल्प को चुन कर मृत्यु का साहस व निर्भयतापूर्वक सामना किया जाता है, जबकि आत्महत्या—असमय में मृत्यु का वरण करना है।

प्रसिद्ध विद्वान डॉ. सागरमल जैन ने समाधिमरण को आत्म-बलिदान से पृथक व श्रेष्ठ माना है। आत्म-बलिदान जहां भावना के अतिरेक में किया जाता है, वहां समाधिमरण का अतिरेक से कोई नाता नहीं है। वहां है—विशुद्ध विवेक और भेद-विज्ञान की जीवनपरक प्रयोगधर्मिता। क्षपक अपने अंतःकरण में सदैव यह विचार करता है—

जीवन में स्वीकार मरण का।
हंसी खुशी कर लेना।
जीवन का इनकार नहीं है।
यह तो क्रम है—संसृति का।
जैसे वृक्षों से सूखे पत्तों का गिरना

पतझर से——इनकार नहीं है।

स्वागत है——आते वसंत का

(मुनि क्षमासागर)

मृत्यु आभार है—जीवन का। मृत्यु की गौरव गाथा में गीता का दूसरा अध्याय अनासक्त योगी कृष्ण के संदेश से भरा हुआ है, जिसमें उन्होंने भयभीत अर्जुन को मृत्यु की शाश्वतता को युद्ध क्षेत्र में ही नहीं, जीवन के युद्ध क्षेत्र के लिए प्रासंगिक बताया है।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानिगृह्णाति नरोऽपराणि।
शरीराणि विहाय जीर्णाः निन्यानि संयातिनवानि देही।।

जैसे पुराने वस्त्रों को उतार कर नए वस्त्रों को यह शरीर धारण कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा जराजीर्ण शरीर को छोड़कर नए शरीर को ग्रहण कर लेती है। गीता का यह अमर श्लोक मृत्यु की सार्थकता को, जीवन के अर्थ में बहुविश्रुत है। ❖

सत्य अनुसंधित्सा

पृष्ठ 32 का शेष

वास्तविकता यह थी कि उन्होंने जीवन के नए मान स्थापित किए और विचार के नए आधार खड़े किए और जातीय शक्ति को नई अभिव्यक्ति प्रदान की। पर उन्होंने भी अपने देशवासियों को आत्मोद्धार के लिए प्रबोधित करते हुए भी पश्चिमी विचारकों, विशेषरूप से पश्चिमी नीति-शास्त्रियों के मतवाद का भी उपकार निस्संकोच भाव से ग्रहण किया। उन्होंने पश्चिम की नीति को आत्मौपम्य की दृष्टि दी।

इन उदाहरणों का उल्लेख इसलिए कर रहा हूं कि इनके माध्यम से सत्य की निरंतरता और गतिशीलता का अंदाज आप कुछ लगा सकें और आप यह समझ सकें कि सत्य का स्वरूप अविच्छिन्न है, अखंड है, निरंतर है, ऊर्ध्वमुख है और वह एक वंश में कभी पाया नहीं जा सकता, कभी देखा तक नहीं जा सकता। बुद्धि के विलास के लिए कभी-कभी तर्क का उपयोग इसलिए किया जाता है कि कोई भी मत ठहर न सके और इसीलिए इस प्रकार के विवाद किए जाते हैं जिनको तर्कशास्त्र में वितंडा कहा है। वितंडा एक घातक प्रवृत्ति है : जो उसे करता है अप्रतिष्ठा उसी की होती है, जिसकी अप्रतिष्ठा करने का वह प्रयत्न करता है उसकी नहीं। मनुष्य को यह अधिकार नहीं है कि वह मनुष्य को अवमानना की दृष्टि से देखे। साथ ही उसका यह कर्तव्य भी नहीं है कि वह केवल अंधा बना दूसरे के हाथ में पड़ी लकड़ी के सहारे चलता रहे। जैसे बिना अनुभव के ज्ञान पंगु है वैसे ही बिना वाद के विवाद अर्थशून्य है। एक तरह से ज्ञान भी अनुभवपूर्वक होने पर ही फलवान होता है, मुक्ति दिलाता है। अनुभवशून्य ज्ञान तो बंधन का कारण बनता है। उसी तरह जो व्यक्ति अपनी और अपनी जाति की मुक्ति की बात सोचता है उसे पहले मनुष्य की मुक्ति के पूर्व-साधनों और सिद्धियों का अनुभव प्राप्त करना ही होता है। इसी अनुभव के बल पर वह नए मुक्ति-पथ का साक्षात्कार या ज्ञान प्राप्त कर पाता है। जैसे भाषा में लक्षणा भी प्रायः किसी-न-किसी रूढ़ि को लेकर चलती है वैसे ही ज्ञान के क्षेत्र में भी नए लक्ष्य बिना पूर्व-अनुभवों के संकेत के प्राप्त नहीं किए जा सकते।

कोई माने या न माने, एक-दूसरे के प्रति अविश्वास, आशंका और भय जब तक बना रहता है, तब तक उसके प्रतिकार की भावना भी प्रबल रहती है और तब ऐसे मतों का स्थापन और उनका प्रचार होता है जो पहले से ही यह मान कर चलते हैं कि वे असमाधेय हैं। अभय और विश्वास के वातावरण में ही स्वस्थ वाद-विवाद पनपते हैं। विवाद के पहले तभी वाद की अपरिहार्य आवश्यकता समझी जाती है और एक-दूसरे के पूरक के रूप में वाद-विवाद गृहीत होते हैं। परस्पर विश्वास का वातावरण और वाद-विवाद की स्वस्थ परंपरा, दोनों के बीच अन्योन्याश्रय संबंध है। ठीक उसी तरह, यदि कालिदास की बात फिर दुहराऊं तो कोकिल का मंगल-गीत और कुसुम के जन्म के बीच अन्योन्याश्रय संबंध है। वसंत की सार्थकता आम्र-मंजरी में है, आम्र-मंजरी की सार्थकता किसलय की लाली में, और किसलयों का अनुराग भी तभी सार्थक है जब वह कोकिल के अनुरंजित कंठ का सौभाग्य पाती है। परंपरा भी ज्ञान की हो चाहे कला की हो, तभी सार्थक है जब वह प्राचीन के प्रति ग्रहिष्णु हो और अनागत के प्रति समर्पणशील हो। 'सर्वत्र विजयमिच्छेत् शिष्यादिच्छेत्पराजयम्'—का तात्पर्य केवल यही है कि सबके ऊपर विजय पाने की कामना कर के भी शिष्य से पराजित होने की कामना ही गुरु की सबसे बड़ी कामना है। शिष्य द्वारा पराजित होने में गुरु की सबसे बड़ी विजय है। आदर और स्नेह से प्रेरित विनय और समर्पण, आदान और प्रदान : यही संस्कृति-प्रवाहिनी की दो मर्यादाएं हैं। ❖

आभामंडल कहां से आता है और कहां विलीन हो जाता है? आभामंडल के रहस्य को खोजने के लिए अपनी अंतर्दृष्टि को जाग्रत करना होता है। यह जागृति बातों से नहीं होती है। सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और शील के मार्ग पर चलने और अंतःकरण के दोषों को दूर करने से इस शरीर में वह महान ज्योति दृष्टिगोचर हो सकती है। आत्मा के साक्षात्कार के लिए वन, पहाड़, गुफा या तीर्थ जाने की जरूरत नहीं। जैसे अरणी की लकड़ी में अग्नि रहती है, वैसे ही आत्मा में आभा रहती है। चित्त की निर्मलता से, भावधारा की विशुद्धि से और दृष्टि के अभ्यास से आभामंडल दिखाई देने लगता है।

आभामंडल का विकास : कुछ सूत्र

मुनि किशनलाल

दुनिया में शक्ति की पूजा होती है। इस विश्व में सम्मान के साथ शक्तिशाली ही रह सकता है। शक्तिहीन को कोई नहीं पूछता और न कोई आदर देता है। शक्ति के अनेक प्रकार हैं। राजसत्ता तो शक्ति है ही, धन भी एक शक्ति है। बुद्धि और शरीरबल भी शक्ति की गणना में आते हैं। शक्ति का कहां और कैसे उपयोग करना चाहिए—यह सवाल बड़ा महत्त्वपूर्ण है। शक्ति के बिना कोई किसी को पूछता नहीं और जिसके पास शक्ति होती है, कोई उसको टेढ़ी नजर से देख नहीं सकता। पर रचनात्मक शक्ति क्या है—यह समझना जरूरी है। रचनात्मक शक्ति के विकास का पहला मंत्र है—संकल्प। संकल्प में 'कल्प' छुपा हुआ है। 'कल्पवृक्ष' कोरी कल्पना नहीं है, वह संकल्प के द्वारा ही प्रकट होता है और इच्छापूर्ति करता है। संकल्प का बीज मस्तिष्क में अंकुरित होता है। शक्तिशाली बनने की तीव्र अभीप्सा और संकल्प से शक्तिशाली बना जा सकता है।

शक्ति को उजागर करने में आभामंडल की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। आभामंडल शक्ति को तीव्र भी करता है और मंद भी कर सकता है। आभामंडल स्थिर नहीं रहता। वह भावना के अनुसार विकसित होता है, उसका ह्रास होता है। जब आभामंडल विकसित होता है तब व्यक्ति को शक्ति का एहसास होता है और जब क्षीण होता है, तब दुर्बलता का भान होता है। अतः शक्ति संचित करने के लिए आभामंडल को निर्मल बनाना चाहिए।

आभामंडल कैसे विकसित करें

आभा क्षीण अथवा दुर्बल होती है तो व्यक्ति को सुस्ती, आलस्य और कार्य करने की इच्छा नहीं रहती। मन अप्रसन्न और विचार निषेधात्मक हो जाते हैं। जब इन बातों का अनुभव होने लगे तो समझना चाहिए कि आभामंडल दुर्बल हो गया है। आभामंडल को विकसित करने के लिए स्वयं को तैयार करना होता है। आभामंडल को विकसित करने का पहला बिंदु है—सकारात्मक सोच। अतः सकारात्मक सोच को विकसित करने के उपाय करने चाहिए। इसका सरल उपाय है कि जो हमारे आस-पास हैं, उनमें गुणों को खोजने का प्रयास करें। हमारे आस-पास जो भी रहता है, उसकी अच्छाइयों को अभिव्यक्ति देनी चाहिए। इसी के साथ शारीरिक यौगिक क्रियाओं, पेट और श्वास की दस क्रियाओं तथा मेरुदंड की आठ क्रियाओं का भी अभ्यास करना चाहिए। इससे शक्ति का सहज रूप से एहसास होने लगेगा। प्राणायाम का अभ्यास और दस से पंद्रह बार चंद्रभेदी और सूर्यभेदी का अभ्यास करना चाहिए। इसके पश्चात् प्रंदह मिनट तक अनुलोम-विलोम प्राणायाम का प्रयोग करना चाहिए।

मंत्रों द्वारा आभामंडल का विकास

मंत्रध्वनि तरंगों का एकीकृत रूप है। मंत्र प्राण-चेतना से संबंधित ऊर्जा है। मंत्र-शक्ति का प्रयोग भारतीय दर्शन, संस्कृति और संस्कारों से जुड़ा हुआ है। यहां जन्म संस्कार भी मंत्र द्वारा किया जाता है। कई अलग-अलग मंत्रों की तरह संस्कारी मां बालक के जन्म के समय उसके कान में 'ॐ अर्हं' मंत्र का संप्रेषण करती है। इससे बालक के मस्तिष्कीय तंतु अधिक सक्रिय हो जाते हैं। बालक की समझ अपेक्षाकृत अधिक विकसित हो सकती है। नामकरण में भी मंत्र आदि द्वारा संस्कारित किया जाता है। भगवान ऋषभ के पुत्र चक्रवर्ती भरत के काल में श्रावकों की पहचान के लिए सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के प्रतीक रूप में तीन सूत्रों धागों का उपयोग किया जाता था। ब्राह्मण पुत्रों और पुरोहितों को द्विज कहा जाता है तथा वे जनेऊ द्वारा शुद्धता का ध्यान रखते हैं। विशिष्ट मंत्रों से चेतना के ऊर्ध्वारोहण की ओर व्यक्ति को उत्प्रेरित किया जा सकता है। एक संकल्प—**विश्वदातिं सुमनसा स्याम्**—अर्थात् हे प्रभो! मैं सदा प्रसन्नमन बना रहूं। मंगलभावना में—**श्री संपन्नोऽहम् स्याम्** और साथ ही **ह्रीं, धी, धृति, शक्ति, शांति, नंदि संपन्नोऽहम् स्याम्**—आदि भावना से भी अपने संकल्प को शक्तिशाली बनाया जा सकता है। व्यक्ति जैसा संकल्प करता है, उसी के अनुरूप वह स्वयं रूपांतरित होने लगता है। मंत्र-ध्वनि की तरंगों के माध्यम से आभावलय बनता है। यही आभावलय व्यक्ति की भावना के अनुरूप कार्य करता है। भगवद्गीता में कहा गया है—**प्रसादे सर्व दुःखानां हानिरस्योपजायते। प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि पर्यवतिष्ठते।।**[1] प्रसन्नता की भावना से समस्त दुखों का नाश होता है। प्रसन्न रहने वाले की बुद्धि स्थिर होती है। उसका ध्यान लगने लगता है।

अर्हं के जाप से भी आभामंडल विकसित होता है। **अर्हं** भी **ॐ** के सदृशः शक्तिशाली है। अर्हं अक्षरात्मक है। ॐ चित्रात्मक है। चित्र में अर्थ को नियोजित करना होता है। अर्हं स्वयं ध्वनि-तरंगों से तरंगित होकर कार्य करता है। ॐ के उच्चारण में मृदुता है। अर्हं के उच्चारण में शक्तिशाली ऊर्जा की ध्वनि-तरंगें प्रस्फुटित होती हैं।

आभामंडल आता कहां से

आभामंडल कहां से आता है और कहां विलीन हो जाता है? आभामंडल के रहस्य को खोजने के लिए अपनी अंतर्दृष्टि को जाग्रत करना होता है। यह जागृति बातों से नहीं होती है। सत्य, तप, सम्यक् ज्ञान और शील के मार्ग पर चलने और अंतःकरण के दोषों को दूर करने से इस शरीर में वह महान ज्योति दृष्टिगोचर हो सकती है। आत्मा के साक्षात्कार के लिए वन, पहाड़, गुफा या तीर्थ जाने की जरूरत नहीं। जैसे अरणी की लकड़ी में अग्नि रहती है, वैसे ही आत्मा में आभा रहती है। चित्त की निर्मलता से, भावधारा की विशुद्धि से और दृष्टि के अभ्यास से आभामंडल दिखाई देने लगता है।

सवाल जनक का : उत्तर याज्ञवल्क्य का

महाराजा जनक एक बार महर्षि याज्ञवल्क्य की सत्संग में बैठे थे। जनक ने पूछा—मनुष्य किस ज्योति से देखता है? महर्षि याज्ञवल्क्य मुस्कराए। उत्तर तो देना ही था, कहा—प्रत्येक व्यक्ति दिन में सूर्य की ज्योति से देखता है। जब सूर्य न हो, तब चंद्रमा की ज्योति से देखता है। जनकजी ने फिर प्रश्न किया—चांद न हो तब? महर्षि ने जवाब दिया—अग्नि की ज्योति से। अग्नि भी न हो, तब किससे देखता है? वाणी-ध्वनि से। रात्रि के गहन अंधकार में यात्री रास्ते से भटक गया। पुकारा—मुझे मार्ग बताओ। उत्तर मिला—आप इधर आ जाओ। ध्वनि के अनुसार वह चल कर उस ओर आ जाता है। वाणी-ध्वनि नहीं हो, तब? व्यक्ति स्वयं की आत्मा के विवेक से मार्ग को तय करता है। जनकजी का फिर सवाल था—आत्मा क्या है? उसका निवास स्थल कौन-सा है? महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा—**योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषुह्मन्त ज्योर्तिःपुरुषः**—जो यह विज्ञानमय प्राणों का संचार करता हुआ हृदय में ज्योति स्वरूप पुरुष आत्मा है।

भगवान महावीर को जब केवलज्ञान हुआ, उस समय आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए भगवान ने कहा—**एगो में सासओ अप्पा, नाणदंसण संजओ, सेसा बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा**—एक आत्मा शाश्वत है, वह ज्ञान और दर्शन से संयुक्त है। शेष बहिर्भाव है। सब संयोग लक्षण वाले हैं। आत्मा के स्वरूप के संबंध में नैति, नैति, नैति कह, समझ सका। आत्मा के संबंध में गौतम बुद्ध से पूछा गया—क्या आत्मा है? कहा नहीं जा सकता। आत्मा नहीं है, यह भी नहीं कहा जा सकता। आत्मा है—यह अवक्तव्य है। बताया नहीं जा सकता। भगवान महावीर से पूछा गया—आत्मा है? उन्होंने कहा—'आत्मा है।' फिर

प्रश्न पूछा गया—उसे दिखाएं, वह कहां है? भगवान महावीर ने कहा—'आत्मा को इन आंखों से नहीं दिखाया जा सकता है। क्योंकि आत्मा में न रूप है, न गंध है, न स्पर्श है। आत्मा अरूपी सत्ता है।' अस्तित्व है तब आत्मा को कैसे देखा जा सके? आत्मा को अनुभव किया जा सकता है। उसकी क्रिया से हम सदैव परिचित हैं। आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया जाए। वह प्रत्यक्ष है। आत्मा है? उसका साक्षात्कार, अनुभव करने की प्रक्रिया है। जो आत्मा है—वह विज्ञाता है। जो विज्ञाता है—वह आत्मा है। भगवान महावीर का अमृत वचन है—**जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।** आत्मा में जो ज्ञानात्मक क्षमता है, वह चेतना में है। अचेतन निर्जीव में ज्ञान नहीं। अस्तित्व तो उसका भी है। अस्तित्व है, अस्तित्व से कोई इनकार नहीं कर सकता। अस्तित्व जड़ और चेतन, दोनों का है। भगवान महावीर ने पंचास्तिकाय का निरूपण किया है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय काल औपचारिक द्रव्य हैं, काल्पनिक हैं। काल सदैव वर्तमान में रहता है। उसका राग-द्वेष के बिना अनुभव ही वीतरागता का अनुभव है। केवल जीवास्तिकाय का ही अनुभव नहीं होता। प्रत्येक अस्तिकाय का भी अनुभव होता है, क्योंकि अस्तित्व सबका गुण है। अस्तित्व के बिना कोई वस्तु टिक नहीं सकती। आत्मा है, उसके कर्म हैं, इसलिए आभामंडल भी है। सिद्धों के आभामंडल नहीं होता। वे अरूपी हैं। उनके कर्म भी नहीं हैं। इसलिए आभामंडल होने का कारण नहीं। ❖

संपूर्ण सत्य को अगर हमने देखा होता, तो फिर सत्य का आग्रह किसलिए रखते? तब तो हम परमेश्वर हो जाते; क्योंकि सत्य ही परमेश्वर है, ऐसी हमारी भावना है। हम पूरे सत्य को पहचानते नहीं हैं, इसलिए उसका आग्रह रखते हैं, और इसीलिए पुरुषार्थ के लिए स्थान है। इसमें हमारी अपूर्णता का स्वीकार आ जाता है। अगर हम अपूर्ण हैं तो हमारी कल्पना का धर्म भी अपूर्ण है। स्वतंत्र धर्म संपूर्ण है। उसे हमने देखा नहीं है, जैसे हमने ईश्वर को देखा नहीं है। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमें हमेशा परिवर्तन हुआ करते हैं, हमेशा होते रहेंगे। ऐसा हो तभी हम ऊपर, और ऊपर उठ सकते हैं; सत्य की ओर, ईश्वर की ओर प्रतिदिन आगे बढ़ सकते हैं। और अगर आदमी के माने हुए सब धर्मों को हम अपूर्ण मानें, तो फिर किसी को ऊंचा या नीचा मानने की बात नहीं रहती। सब धर्म सच्चे हैं, लेकिन सब अपूर्ण हैं, इसलिए उनमें दोष हो सकते हैं। समभाव होने पर भी हम उन धर्मों में दोष देख सकते हैं। अपने धर्म में भी हम दोष देखें। उन दोषों के कारण हम अपने धर्म को छोड़ न दें, लेकिन उन दोषों को मिटाएं। अगर हम इस तरह समभाव रखेंगे तो दूसरे धर्मों से जो कुछ लेने लायक होगा, उसे अपने धर्म में जगह देने में हमें हिचकिचाहट नहीं होगी; इतना ही नहीं, बल्कि ऐसा करना हमारा धर्म हो जाएगा।

सब धर्म ईश्वर के दिए हुए हैं। लेकिन वे मनुष्य की कल्पना के हैं। और मनुष्य उनका प्रचार करता है इसलिए वे अपूर्ण हैं। ईश्वर का दिया हुआ धर्म पहुंच के परे—अगम्य है। मनुष्य उसे अपनी भाषा में रखता है, उसका अर्थ भी मनुष्य करता है। किसका अर्थ सच्चा है? सब अपनी-अपनी दृष्टि से, जब तक उस दृष्टि के अनुसार वे बरतते हैं तब तक, सच्चे हैं। लेकिन सबका गलत होना भी असंभव नहीं। इसलिए हम सब धर्मों की ओर समभाव रखें। इससे अपने धर्म के प्रति हममें उदासीनता नहीं आती, लेकिन अपने धर्म के प्रति हमारा जो प्रेम है वह अंधा न होकर ज्ञानमय बनता है, और इसलिए वह ज्यादा सात्त्विक, ज्यादा निर्मल बनता है। सब धर्मों की ओर समभाव हो तभी हमारे दिव्यचक्षु खुल सकते हैं। धर्मांधता और दिव्य दर्शन में उत्तर-दक्षिण का अंतर है। धर्म का सच्चा ज्ञान होने पर सारी अड़चनें दूर हो जाती हैं और सब धर्मों के बीच समभाव पैदा होता है।

—महात्मा गांधी

भुवन अनर्गल कहे जा रहे थे। चेहरे का आधा हिस्सा गुस्से से लाल था। क्षीरोदबाबू को दुख हो रहा था, अच्छा भी लग रहा था। भुवन की बातें क्रमशः अधिक-से-अधिक असंबद्ध हो चली थीं। रुपए सहेज कर रखने के प्रसंग में एक लोभी कंजूस की हास्यास्पद कहानी कहने लगे। उसके बाद भागवत से सैकड़ों पंक्तियां उद्धृत कर गए। फिर चला भारत के अतीत तथा भविष्य का प्रसंग।

भाई

मनोजदास

कहानी

'आप अक्टूबर से पहले तो आ नहीं रहे? तब तक हमारे शहर में टेलीविजन शुरू हो जाना चाहिए। इसलिए अपना सेट ले आना। हालांकि इलेक्ट्रॉनिक चीजों पर काफी ड्यूटी लग जाती है। फिर भी जब आप लगातार छह साल तक विदेश में रहने के बाद अपने देश लौट रहे हैं, आपके साथ कस्टम वालों का व्यवहार नर्म होने की आशा की जाती है। मैं सोचता हूं, जो भी लगे अपना सेट साथ ले आना अच्छा है, क्योंकि हमारा देसी सेट निकट भविष्य में उसके समकक्ष नहीं पहुंच सकता। मैंने देखा, वहां मां भी टी.वी. देखने की काफी अभ्यस्त हो चुकी हैं। इसलिए यहां उन्हें खटकेगा।'

भतीजे की चिट्ठी है। वह चाची को मां कह कर संबोधित करता है।

उत्तर लंदन के एक फ्लैट में सामान वगैरह पैक करते समय क्षीरोद बाबू पढ़ रहे थे।

अन्यान्य सूचनाओं व हिदायतों के बाद अंतिम पैरे में लिखा : 'पिताजी की बातें सुन कर आप विचलित हो उठेंगे। इस बीच वे काफी तेजी से अपना मानसिक संतुलन खोने लगे हैं। हालांकि थे ही कब वे पूरी तरह सामान्य! फिर भी आजकल बेहद लापरवाह और गैर-ज़िम्मेवार हो गए हैं।'

गैर-जिम्मेवार! भैया, किशोरावस्था में जिनके अस्तव्यस्त बाल स्वयं यह बताते थे, मानो उन्होंने पूरी मातृभूमि की अदृश्य जिम्मेवारी अपने सिर पर ढो रखी हो! विभिन्न संगठनों में जो दायित्व दूसरे लोग लेने से कतराते थे, भुवनबाबू बड़ी सहजता से उन सबको स्वीकार कर लिया करते थे।

लापरवाह तो भैया शुरू से ही थे। इसके लिए उन्हें डांट भी कम नहीं पड़ी है। पिताजी थे सरकारी हाईस्कूल में—'ब्रिटिश शासन की उपलब्धियां'—शीर्षक पाठ पढ़ाने वाले इतिहास शिक्षक। चाचाजी थे जज के पेशकार। एक ऐसे परिवार का युवक विदेशी कपड़े जला कर कारावास जाएगा—यह बात उस परिवार के लिए किसी भूकंप से कम नहीं थी।

एक दिन आपस में एक-दूसरे का चेहरा न दिखने-सा अंधेरा हो जाने के बाद पिताजी ने भरे गले से कहा था—'भुवन, मेरी परवाह तू भले ही मत कर। मेरी नौकरी चली भी गई तो मैं ट्यूशन से दो पैसे कमा कर ला सकता हूं। लेकिन, तेरे चाचा कचहरी में पेशकार हैं। उनके बारे में न सोचना निष्ठुरता होगी। जिसके साम्राज्य में सूर्यास्त नहीं होता, वह अंग्रेज तुम लोगों से डर कर भारत छोड़ कर चला जाएगा, यह बात सोचना बचपना है। हालांकि तेरी इस वाचालता से तेरा छोटा भाई भी परेशान होगा। बेचारा कभी सेकेंड नहीं हुआ। किंतु, तेरा भाई होने की वजह से वह बदनसीब भी सरकार का कोपभाजन बन कर रहने को बाध्य है। उन्नति नहीं कर सकता।'

'युग बदल रहा है। क्या जाने एक दिन उसे मेरा भाई होने का गर्व हो!' भैया ने जवाब दिया था।

क्रोधित होने पर पिताजी हकलाते थे। उस हकलाहट्-भरी आवाज में उन्होंने अपने मास्टर जीवन का अमोघअस्त्र प्रयोग किया था—'रास्कल! मोड़ अपने कान, ट्विस्ट, आइ से!'

आदेश पालन करने के बाद भैया ने कहा था—'मोड़ लिए, किंतु पिताजी, आपने जो वास्तविक समस्या उठाई है, यह उसका समाधान नहीं है। उसके समाधान को लेकर मैं कम चिंतित नहीं हूं। हमारे नेता ने एक उत्तम सलाह दी है। आप मुझे त्याग दीजिए। कहीं किसी ने ऐसा ही करके 'रायसाहब' का खिताब पाया है। मैंने तो कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि आपकी भी यही लालसा है। बहरहाल, यह सलाह मान लेने से आपकी मास्टरी, चाचाजी की पेशकारी और क्षीरोद की भावी नौकरी सुरक्षित रहेगी।'

पिताजी आगे कुछ नहीं बोल पाए। नजले की वजह से पिछले पांच साल से छोड़ा सांध्यकालीन स्नान उसी दिन उन्होंने सहसा फिर से शुरू कर दिया था।

नहा लेने के बावजूद पिताजी ने कुछ नहीं खाया। मां के रोते वक्त स्वयं खाने की रट लगा कर बालक क्षीरोद ने मार खाई और फिर मनाने पर भी खाना नहीं खाया।

नेपथ्य में रह कर पिता-भैया की बातचीत सुन रहे क्षीरोद का सारा गुस्सा केंद्रित हो गया था—भैया पर। भैया के कारण फर्स्ट न होकर सेकेंड होने के बावजूद उसका भविष्य अंधकारमय है, यह उसने उसी दिन शाम को पहली बार समझा था। हालांकि भविष्य से अंधेरे का संबंध क्या है, उस अंधेरे को उपयुक्त लालटेन से क्यों दूर नहीं किया जा सकता था, उस बारे में उसकी धारणा बड़ी अस्पष्ट थी।

किंतु, इन सबके बावजूद उसकी चेतना में जो विचार कुछ स्पष्ट थे, वे थे—पिताजी और चाचा से भैया अलग हैं। भैया उसके भविष्य के शत्रु अवश्य हैं, फिर भी वे हैं महान।

पेशकार चाचा ने शायद देर रात को घर लौट कर भुवन और अपने अग्रज में हुई बातचीत तथा अग्रज से उसकी प्रतिक्रिया के बारे में सुना था। सुबह उन्होंने भुवन को पास बुला कर कहा था—'तुम त्याज्य पुत्र बनने का प्रस्ताव रख रहे थे? तुम जैसे आदर्शवादी युवक से ही ऐसे सुचिंतित प्रस्ताव की उम्मीद की जा सकती है। लेकिन, बात क्या है—जानते हो? तुम शादी-शुदा हो। और एक-दो साल बाद बहू घर आएगी। त्याज्यपुत्र के रूप में तुम हमारी बहू का भरण-पोषण कर सकते हो—काश! विधाता की कृपा से इतना विश्वास हममें होता!'

उस कम उम्र में भी क्षीरोद को लगा, चाचा की वह बात अनावश्यक थी। केवल भैया को उनकी अयोग्यता के बारे में सचेत करने के उद्देश्य से ही मानो उन्होंने वह बात कही हो। जबकि भैया जवाब दे सकते थे कि विवाह करवाया गया है। इसलिए बहू के भरण-पोषण का दायित्व कर्ताओं का होना चाहिए। लेकिन, वे चुप रहे। वे चाचा को नजरंदाज करते रहे।

भैया को चौदह वर्ष की आयु में विवाह करना पड़ा था। उस समय भाभी की उम्र थी नौ साल। सत्रह साल की उम्र से भैया देशप्रेमी तथा समाज-सुधारक बने तथा बाल-विवाह के अपराध में उन्हें अपराधी बनाने की वजह से बात-बात पर वे मां के आगे चिड़चिड़ाने लगते।

जब भैया की उम्र बीस साल थी, तब भाभी आई थीं। क्षीरोद बाबू समझते थे कि भैया के लिए अप्रयोजनीय होने के कारण, भैया की कमाई से वंचित रहने के कारण, उनके कारागार में होने के कारण भाभी स्वयं को इस परिवार के लिए अभिशाप समझती थीं और यथासंभव सारा कुछ चुपचाप सह कर, कठोर परिश्रम कर, क्रमशः कमजोर होते हुए ससुराल आने के आठ साल बाद परलोक सिधार गईं। छोड़ गई थीं दो साल का बच्चा।

उन्हीं दिनों देश आजाद हुआ और लगा कि भुवन का भविष्य उज्ज्वल है। उनकी दूसरी शादी के लिए कई रुचिकर प्रस्ताव भी आए थे। किंतु, भुवन ने वे सब ठुकरा दिए।

मृत्युशय्या पर पड़े पिता की इच्छानुसार क्षीरोद को कुछ पहले विवाह करना पड़ा—बहू आकर भुवन की असहाय संतान की जिम्मेवारी संभालेगी। आज पचीस साल बाद क्षीरोद बाबू देख रहे हैं, वह जिम्मेवारी उनकी पत्नी ने बखूबी निभाई है। भतीजा एक होनहार युवक है। उसने कानून की परीक्षा पास की है। लेकिन, वकालत न

करके एक छोटा उद्योगपति बन गया है। स्थानीय रोटरी क्लब का सेक्रेटरी, परिवार में वही एकमात्र लड़का है। क्षीरोद बाबू तीन-तीन सुंदर कन्याओं के जनक हैं।

भैया की गतिविधियों ने क्षीरोद बाबू का भविष्य न तो अंधकारमय किया है और न ही अधिक प्रकाशमय। क्षीरोद मेधावी छात्र के रूप में हर स्तर पर छात्रवृत्ति पाकर बड़ा डाक्टर बन गया है, तीन बार विदेश गया है—एक बार उच्च शिक्षा के लिए, एक बार किसी प्रतिनिधि दल में और इस बार तालीम से जुड़ी किसी नौकरी के सिलसिले में।

क्षीरोद बाबू का स्वागत करने के लिए स्टेशन पर भतीजा सपत्नीक मौजूद था और उसके साथ थे बड़ी लड़की-दामाद तथा डाक्टर-अध्यापक-बंधुगण। कार में बैठकर क्षीरोद बाबू ने पूछा—'भैया घर पर ही हैं ना? कैसे हैं?'

'हैं—किंतु घर पर होते ही कब हैं? उन्हें मालूम है कि आज आप आ रहे हैं। स्टेशन तो आ सकते थे? हालांकि अच्छा ही हुआ, नहीं आए। कब क्या कहते हैं, कुछ ठीक नहीं।' भतीजे ने बताया और एक लंबी सांस के साथ क्षण-भर को स्टियरिंग छोड़ कर असहाय मुद्रा में बोला—'क्या किया जाए, मेरी तो कुछ समझ में ही नहीं आता। अब तो जो भी करना हो, आप ही कीजिए।'

'बात तो ठीक है।'—थोड़ा रुक कर ग्लानिबोध महसूस करते हुए बोले—'पर समय कहां है? बंबई में ज्वाइन करके सामान इसी तरह फेंक कर आया हूं। बस, तुम लोगों से एक बार मिल कर लौट जाना है।'

'परंतु, मैं नहीं जाने वाली। लंदन में छह साल रहने के बाद फिर एक महानगर, बंबई। हमारा तो यह छोटा शहर ही अच्छा है। लगता है कुछ नहीं बदला। पिछले छह साल की कैद के बदले कम से कम छह महीने तक मैं यहां से जाने वाली नहीं।'—क्षीरोद बाबू की पत्नी ने कहा।

'तुम्हें जाने ही कौन देगा, मां!'—भतीजे ने भावुक होते हुए कहा।

'पिताजी का अब तक पता नहीं!'—घर में घुसते हुए भतीजे ने कहा।

'आ जाएंगे? इतने बेसब्र क्यों हैं?'—संस्कृतिवादी वधू ने ससुर के अपराध की मात्रा घटा कर दिखाने की कोशिश की।

क्षीरोदबाबू भाई के व्यवहार से निश्चित ही खीझ रहे थे, किंतु बहू का समर्थन करते हुए बोले—'और नहीं तो क्या? आ जाएंगे।'

चाय आई। पत्नी अंदर चली गई थी बहू के साथ। भतीजे ने आवाज धीमी करके कहा—'किसी तरह पिताजी को रांची ले जाना होगा। बिलासबाबू इस समय सुपरिंटेंडेंट हैं। पिताजी उन्हें बहुत चाहते थे। यहां वे किसी से इलाज नहीं करवाएंगे। बंबई जाने से पहले आप कोई व्यवस्था करके जाइए।'

'हां, यही करना होगा अब। क्या इस वक्त तबीयत ज्यादा खराब हो गई है?'

'वही चुनाव वाली घटना के बारे में आपको विस्तार से लिखा था। दिमाग खराब होने की बात तभी से स्पष्ट हुई। उसके बाद....'

भतीजा एक-एक करके भुवन के पागलपने की बातें कहने लगा। क्षीरोदबाबू कुछ-कुछ सुन रहे थे, काफी-कुछ अनसुना कर रहे थे। उन्हें याद आ रहा था—

स्वाधीनता के बाद प्रथम चुनाव में जब भैया के खड़े होने की बात तय हुई, तब उनके नेता ने उन्हें बुला कर कहा—'ध्यान से सुनो और सोचो। यदि तुम चुनाव जीत गए तो वित्तमंत्री बनोगे। अर्थात् तुम्हारे हाथों में क्षमता आ जाएगी। तुम जैसे असली देशवासी यदि क्षमता की डोर से बंध गए तो संगठन का काम क्या कालूराय जैसे नकली लोग देखेंगे?'

जीवन में दूसरी बार आदर्शवाद से उद्‌बुद्ध हुए। इसलिए चुनाव जीता और वित्तमंत्री बना कालूराय। भुवन बने पार्टी के जिला संगठन अध्यक्ष। धीरे-धीरे कालूराय और उसके अपने लोग अध्यक्ष व सचिव बने। हालांकि भुवन को पूरी तरह हटाना संभव या आवश्यक नहीं था। वे बने सम्मानित कोषाध्यक्ष।

क्रमशः देशव्यापी राजनीति के प्रति लोगों का सम्मान कम होने लगा। एक ओर राजनीति मात्र क्षमता प्राप्ति का मार्ग बनी तो दूसरी ओर जनता उस स्थिति को संभालने के बदले मौका मिलते ही राजनीतिज्ञों की खिल्ली उड़ाने, खिंचाई करने की कोशिश व उत्साह में अपना गणतांत्रिक कर्तव्य खो बैठी।

भुवन प्रथम दल में शामिल नहीं हो सके। परंतु, जनता के आगे राजनीति के एक सुलभ प्रतिनिधि के रूप में परेशानियों से घिरे रहे।

धीरे-धीरे वे चिड़चिड़े हो उठे। क्षीरोदबाबू जानते थे—भैया सत्तारूढ़ नेताओं को अपनी ही तरह ईमानदार समझते थे, उनकी बातों को गंभीरता से लेते हुए उनकी ओर से लोगों के आगे सफाई देने जैसी मूर्खता करके लोगों के उपहास को भी महत्त्व दिया करते थे। इसलिए चिड़चिड़े होने के सिवाए उनकी और कोई गति नहीं थी।

उनके उसी तरह चिड़चिड़े व बौखलाए-से दिखने के दौरान ही क्षीरोदबाबू छह साल के लिए विलायत चले गए थे। वहां उन्हें भैया के चमत्कारपूर्ण पागलपन का विवरण मिला था।

शहर में हो रहा था कोई उप-चुनाव। इस बार कालूराय के मार्ग में था एक विशेष गर्जन-वीर प्रतिद्वंद्वी। कालूराय भी आक्रामक रूप से गर्जन-वीर का मुकाबला कर रहा था।

वोट पड़ने के लगभग दो दिन पहले आधी रात को राय ने आकर भुवन को जगाया। दुमंजिले में एक किनारे बने भुवन के कमरे में जाकर उन्हें एक नया सूटकेस पकड़ाते हुए कहा—'यह तुम्हारे पास सुरक्षित रहेगा। काफी विस्फोटक कागजात हैं इसमें—परसों रात जरूरत पड़ेगी इसकी।'

जीप में बैठते समय कालूराय ने अपनी जेब से दो चाबियां निकालीं और उनमें से एक चाबी भुवन को देते हुए कहा, 'डुप्लिकेट तुम रखो।'

घंटे-भर बाद भुवन के पानी का घड़ा सूटकेस पर ढनग गया और सूटकेस कुछ गीला हो गया। 'कागजात' खराब होने की आशंका से भुवन ने सूटकेस खोला।

उसके बाद कुछ देर तक सुन्न रह कर उन्होंने कालूराय को फोन किया।

'क्या बात है?'—कालूराय ने थकी हुई आवाज में पूछा।

'तुमने कहा था कागजात—इस सूटकेस में तो नोटों की गड्डियां हैं।

'मैंने क्या सिर्फ कागजात कहा था? कहा था विस्फोटक कागजात—हाः हाः—पर हुआ क्या?'

'कुछ नहीं, पर मैं सोचता हूं कि ये लगभग पचीस हजार होंगे।'

'हाः हाः, उससे भी अधिक हैं भुवनबाबू, बहुत अधिक हैं।'—कहा कालूराय ने। वे जानते थे कि भुवनबाबू को गोपनीय बातें बतानी उतनी ही सुरक्षित हैं जितनी कि घर की पालतू बिल्ली को।

'क्या पचास?'

उससे भी अधिक हैं! आप महापुरुष हैं, आपको उससे क्या लेना-देना?'

'क्या एक लाख?'

'हो सकता है। किसी शुभचिंतक ने दिए हैं।'

'इसका करेंगे क्या?'

'मैंने कहा तो था, परसों रात काम आएंगे।'

'क्या लोगों को रिश्वत देंगे? इसका मतलब लोग जो कुछ कहते हैं, वह सच है?'

'हेः हेः भुवनबाबू, आपसे पार पाना बड़ा मुश्किल है। जाइए, सो जाइए।'

भुवन सोए नहीं। रिक्शे में सूटकेस रख कर रात दो बजे स्थानीय अनाथाश्रम के सेक्रेटरी से मिल कर पचीस हजार रुपए देते हुए बोले—'बच्चों को ठीक से 'एपल' और अंगूर खिलाइए। दो-चार दुधारू गाय खरीदिए।'

रात तीन बजे उसी शहर में स्थित राज्य के सबसे बड़े विधवाश्रम की संचालिका के हाथों में चालीस हजार रुपए देते हुए बोले—'आपके यहां सौ अंतेवासी हैं—इससे उन सबके लिए एक-एक साइकिल की व्यवस्था हो जाएगी।'

भोर साढ़े चार बजे उनकी आवाज तथा एलसिसिएन कुत्ते के जवाब से घबरा कर जिलाधीश के जगने पर भुवन ने उन्हें चौंतीस हजार रुपए देते हुए कहा—'ये रुपए प्रधानमंत्री के राहत कोष में भिजवा दीजिए।'

उसके बाद घर पहुंच कर सूटकेस से बाकी के हजार रुपए रिक्शेवाले को देकर विदा कर दिया।

यथासमय कालूराय ने गुस्से में भुवनबाबू की कमीज फाड़ दी और तीन बार जीतने के बावजूद इस बार चुनाव हार गए। पार्टी का अनुशासन तोड़ने तथा मानसिक स्थिति ठीक न होने का आरोप लगा कर भुवन की सदस्यता समाप्त कर दी गई।

क्षीरोदबाबू चाय खत्म करके बाथरूम की ओर जा रहे थे। पीछे से सुनाई दिया अंतरंग कंठस्वर—'आ गया रे? रहने दे, रहने दे, बैठ!'

भुवन का स्वर पहले जैसा तेज था। हृदय से निकली शब्दावली की ध्वनि को कंठ के पास कोई जान-बूझकर नियंत्रित नहीं करता, एकाध शब्दों को धक्का देकर हृदय की गहराई में डाल कर मगज के भीतर से शब्द खींच कर खाली जगह नहीं भरे जाते।

'सुबह-सुबह निकल कर कम से कम दस मील घूमना पड़ता है। तुझे खाने में जो चीज अच्छी लगती है ना, छह सालों से तूने वह नहीं खाई होगी—तीन गांव ढूंढ़ने के बाद यह मिली है।'

भुवन 'घूमा', 'ढूंढ़ा' आदि न कह कर घूमना या ढूंढ़ना पड़ा जैसी अभिव्यक्ति के जरिए अपने व्यक्तित्व को अंतराल में रखते हैं।

'क्यों किया इतना कष्ट?'—क्षीरोद ने कहा।

'अब आजकल कष्ट कोई नहीं करता। इसीलिए मैं तेरे आने की बाट जोह रहा था। तेरे आने के बाद हम साथ मिल कर कष्ट करेंगे। गरीब और असहाय लोग काफी कष्ट भोग रहे हैं। तू मेरे साथ गांवों में जाएगा, उनकी सेवा करेगा, दवाइयां देगा। हालांकि तू रुपए भी कमाएगा। मैं बांटूंगा। रुपयों को सेवा में लगाने में जो आनंद है, सहेज कर रखने में कहां? लोग समझते ही नहीं।'

भुवन अनर्गल कहे जा रहे थे। चेहरे का आधा हिस्सा गुस्से से लाल था। क्षीरोदबाबू को दुख हो रहा था, अच्छा भी लग रहा था। भुवन की बातें क्रमशः अधिक-से-अधिक असंबद्ध हो चली थीं। रुपए सहेज कर रखने के प्रसंग में एक लोभी कंजूस की हास्यास्पद कहानी कहने लगे। उसके बाद भागवत से सैकड़ों पंक्तियां उद्धृत कर गए। फिर चला भारत के अतीत तथा भविष्य का प्रसंग।

चुपचाप बैठे थे क्षीरोदबाबू। कभी भाई कितने मितभाषी और गंभीर हुआ करते थे। कभी-कभार ही इतने वाचाल होते थे।

क्षीरोद बाबू के चेहरे पर उभर आई थी दर्दभरी अन्यमनस्कता।

वही भाई हैं—जबकि आज उनकी उपस्थिति का एहसास ही नहीं हो रहा।

अन्यमनस्क क्षीरोद नहीं जान पाए कि कब भैया की बातें बंद हो गई थीं। क्षीरोद सिर झुकाए सिगरेट से लाइटर छुआ रहे थे। सहसा चौंक उठे। गाल पर पड़ा था एक जोरदार तमाचा।

भैया उठ कर सामने खड़े थे। क्षीरोद उनका चेहरा स्तब्ध हो ताकते रहे।

भुवनबाबू ने गंभीर स्वर में डांट पिलाई—'तुझसे कहा था ना, फिर कभी यह काम किया तो थप्पड़ खाएगा?'

कहा था भैया ने। बालक क्षीरोद एक बीड़ी चुरा कर धूम्रपान का परीक्षण करते समय भुवन के सामने पड़ गया था। भुवन ने उसका कान पकड़ कर थप्पड़ मारने को हाथ उठाया था, पर जड़ा नहीं। सिर्फ आगाह करते हुए कहा था—'फिर कभी यह काम किया तो जड़ दूंगा।'

चालीस साल बाद क्षीरोदबाबू सिगरेट फेंक कर किंकर्तव्यविमूढ़-से खड़े थे। और सामने खड़े थे भुवन। भुवन का चेहरा तमतमा उठा था। उन्होंने भग्नकंठ-से कहा—'ओह, तू कितना बड़ा आदमी बन गया है!'

'फिर कभी नहीं करूंगा ऐसी गुस्ताखी।'—क्षीरोदबाबू ने कोशिश करके अपनी सिसकियां दबा लीं। भैया ने उन्हें सीने से लगा लिया था।

बेटा और बहू अंदर आए। वे स्तब्ध हो खड़े हो गए।

'आजकल मैं कितनी गलतियां कर रहा हूं, क्षीरोद! मैं जानता हूं, ये सभी लोग मुझे पागल समझते हैं, समझा? भला इसमें इनकी क्या गलती है?'—भुवन ने कहा।

'इनकी गलती नहीं तो फिर किसकी गलती है?'—कठोर स्वर में कहा क्षीरोद ने।

'हमने तो कभी ऐसा नहीं कहा!'—अपराधी-सा कहा बेटे ने। ❖

अनुभव के लिए दोहरे वजूद की उपस्थिति जरूरी शर्त है—एक सब्जेक्ट दूसरा आब्जेक्ट—यानी अनुभव करने वाला और अनुभव की जाने वाली चीज। अनुभव का प्रादुर्भाव तब होता है जब ईगो का नॉन-ईगो से संपर्क जुड़ता है—यानी कर्ता और कर्म का संपर्क होता है और यह संपर्क पैदा होता है इंद्रियों की मध्यस्थता से। अनुभव को प्राप्त करने का केवल एक ही रास्ता संभव है। वह है सेंसेशन के ऑर्गन, यानी इंद्रियां जो ज्ञेय वस्तु से ईगो (मनस) में चेतना पैदा करती है। इस प्रकार अनुभव एक बौद्धिक प्रक्रिया द्वारा हासिल होता है। वह कोई पराबौद्धिक वस्तु नहीं है।

—एम.एन. राय

नन्दकिशोर आचार्य की कविताएं

•
मैं फिर वही

हर चरित्र आता है
कुछ समय के लिए—
मुझ को कुछ और करता हुआ
गुजर जाता है
मुझ में से हो कर।

और मैं फिर वही
छूंछे का छूंछा।

अगर सब अस्तित्व
तुम्हीं में घटित होता
और चुकता है
तुम भी फिर वही
हो रहते हो क्या—
छूंछे के छूंछे!

•
खुद को घटाते रहना

सब कुछ मुझ में
घटित होता है
सब साजिशें—सब मेल
सारी घृणा—सारा प्रेम
जटिल होती ग्रंथियां सारी
—कभी खुलतीं भी—
मुझी में रूप लेते हुए।

लौट जाते सब नाटक खत्म होने पर
सूना छोड़ कर मुझ को—
मैं जो मंच हूं केवल
जिस में सब कुछ घटित होता है
खुद उस के सिवा—
या यही है होना :
सब कुछ होने देने में
खुद को घटाते रहना।

•
वही तो है खुदाई

अभी परदा उठेगा
और मैं नहीं रहूंगा मैं।

अरसे से जो करता रहा अभ्यास
अपने को अन्य होने दूं
और उस अन्य होने में
रचूं खुद को—
अपनी अनन्यता को—
यही तो है सृजन मेरा।

तो क्या सृजन
खुद को अन्य करना है—
वही तो है खुदाई—
वही मेरी अनन्यता।

•
सच-झूठ

कितना सच हो जाता हूं मैं
जो झूठ हूं दरअस्ल
और झूठ कितना हो सकता हूं
सच को दर्शाते हुए!

अभिनय का कमाल है यह
जो सच को झूठ
झूठ को सच बनाता है
—सिर्फ मेरी ही नहीं
दर्शक की भी खातिर।

देखना भी क्या अभिनय है?

❖❖

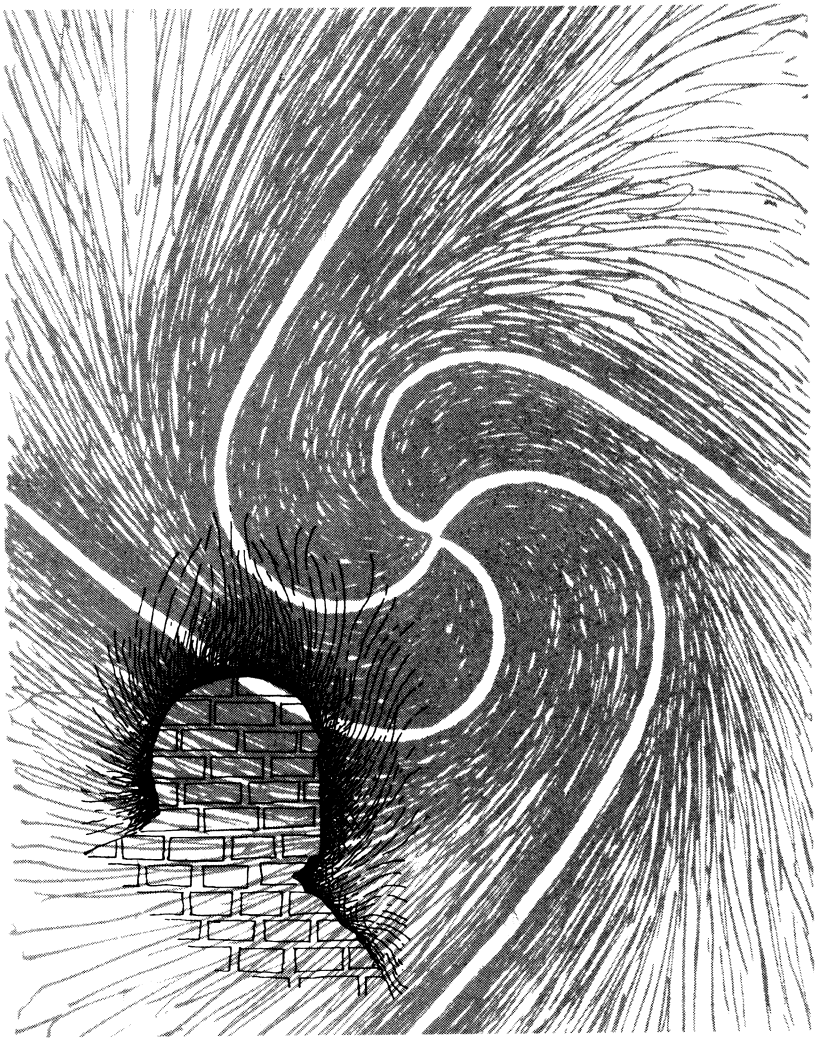

शीलन

अध्यात्म का शिक्षा के साथ समन्वय आवश्यक है। हमें स्वानुभूति को केंद्रित करना होगा। हम सभी को अपने-अपने उच्च बौद्धिक धरातल के प्रति जागरूक बनना होगा। हम महान अतीत को उज्ज्वल भविष्य से जोड़ने वाली कड़ी हैं। हमें अपनी सुप्तावस्था में पड़ी आंतरिक ऊर्जा को प्रज्वलित करना होगा ताकि वह हमारा मार्गदर्शन कर सके। रचनात्मक प्रयास में रत ऐसी मेधाओं का प्रकाश इस देश में शांति, समृद्धि और सुख लाएगा।

— **अबुल पकीर जैनुलाबदीन अब्दुल कलाम**

पदार्थों के स्वाभाविक धर्मों का अभ्यास के द्वारा पूर्ण विकास होता है, सहकारी धर्मों का नहीं। जल का स्वाभाविक धर्म शीतलता है। इसकी चरम परिणति बर्फ में हो सकती है, पर अग्नि में नहीं। क्योंकि उष्णता उसका आगंतुक धर्म है। इसी प्रकार स्वर्ण को तपाने से शुद्धि आती है, क्योंकि विशुद्धि उसका स्वाभाविक धर्म है। अतः दोष और आवरणों की हानि होने से व्यक्ति अतींद्रिय ज्ञान प्राप्त कर सकता है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक धर्म है। इसलिए बिना इंद्रियादि के भी आत्मा ज्ञान कर सकता है। स्वयमेव, स्व-पर प्रकाशता लक्षण वाला ज्ञान आत्मा का स्वभाव ही है और स्वभाव चूंकि पर से अनपेक्ष होता है, इसलिए इंद्रियों के बिना भी आत्मा को ज्ञान होता है।

ज्ञान : इंद्रियों के बिना भी संभव

डॉ. बच्छराज दूगड़

भारतीय दर्शन में सामान्यतः 'प्रत्यक्ष' के दो विभाग किए जाते हैं—इंद्रिय प्रत्यक्ष और अतींद्रिय प्रत्यक्ष। ज्ञान की समस्या जहां एक ओर प्राणीजगत के इंद्रियसंवेद्य को छूती है, वहीं दूसरी ओर अलौकिक प्रत्यक्ष को भी छूती है। इंद्रिय प्रत्यक्ष में स्पष्टतः इंद्रियों की भूमिका रहती है। जहां तक अतींद्रिय ज्ञान का प्रश्न है, अधिकांश भारतीय दर्शन यह मानते हैं कि इस प्रकार के ज्ञान में इंद्रियों की कोई प्रत्यक्ष भूमिका नहीं है। केवल मीमांसक व चार्वाक ही यह मानते हैं कि बिना इंद्रियों के कोई भी ज्ञान संभव नहीं है। मीमांसक किसी भी संज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व ज्ञानेंद्रियों का विषय तथा विषय के गुणों से संपर्क, मनस का ज्ञानेंद्रियों से संपर्क एवं मनस का आत्मा से संपर्क अनिवार्य मानते हैं।

मीमांसक अपने मत के पक्ष में तर्क देते हुए कहते हैं कि अतींद्रिय ज्ञान को भी इंद्रियसंयोगजन्य होना ही चाहिए। अभ्यास से थोड़ी-बहुत शुद्धि तो हो सकती है, पर उसका प्रकर्ष उस परम सीमा तक संभव नहीं, जहां ज्ञान बिना इंद्रियों के भी हो जाय।[1] कोई व्यक्ति कूदने का कितना ही अभ्यास करे, वह लोक को नहीं लांघ सकता।[2] देश, काल और स्वभाव से जो वस्तुएं इंद्रियों से असंबद्ध हैं, उनके ग्रहण का किसी के पास कोई उपाय नहीं। जहां भी हम अतिशय देखते हैं, वहां वह सामर्थ्य अपने विषयों का बिना उल्लंघन किए हुए ही देखी जाती है। ऐसा कभी नहीं होता कि रूप के विषय में श्रोत्रेंद्रिय की प्रवृत्ति देखी जाय।[3] ज्ञान प्रक्रिया की अपनी सीमाएं हैं। सभी प्रकार के ज्ञान किसी-न-किसी रूप में विषय और इंद्रियों के संयोग की अपेक्षा रखते ही हैं।

इंद्रियों के बिना भी ज्ञान संभव है

बौद्ध, जैन एवं न्याय दर्शन मीमांसकों के मत का खंडन करते हुए अन्य दर्शनों के साथ इस बात पर सहमत होते हैं कि बिना इंद्रियों के भी ज्ञान संभव है। और वस्तुतः वही ज्ञान परम ज्ञान है जो बिना इंद्रियों के होता है।

बौद्ध मत

बौद्ध दार्शनिक कमलशील कहते हैं कि जैसे राजहंस शिशु जन्म के समय तो अपने स्थान से भी बाहर जाने को समर्थ नहीं होता, किंतु अभ्यास के द्वारा वह जलधि भी पार कर लेता है। इसके अतिरिक्त प्रतिपक्ष की सन्निधि में जो अपचय धर्म होते हैं, वे प्रतिपक्ष की अत्यंत वृद्धि होने पर अत्यंत अपचय वाले हो सकते हैं—जैसे स्वर्ण-मल आदि। स्वर्ण की अत्यंत विशुद्धि होने पर उसमें मल का अत्यंत अपचय हो जाता है। उसी प्रकार नैरात्म दर्शन होने पर राग-द्वेष आदि का अत्यंत विनाश संभव है।[4]

जैन मत

जैन दर्शनानुसार हानि और वृद्धि से अतींद्रिय ज्ञान की सिद्धि होती है। जैसे आकाश में परिमाण की सर्वोत्कृष्टता तथा परमाणु में परिमाण की अल्पता पाई जाती है, उसी तरह ज्ञान की भी हानि-वृद्धि देखी जाती है। अतः ज्ञान की सर्वोत्कृष्टता भी फलित होती है।[5] प्रमाण मीमांसा में कहा गया है—प्रज्ञा के तारतम्य की विश्रांति आदि की सिद्धि से सर्वज्ञता (अतींद्रिय ज्ञान) की सिद्धि होती है।[6]

जिसमें तरतमता होती है, उनमें पूर्ण प्रकर्ष होता है। इसे मीमांसकों ने व्यभिचारी माना है। जैन दार्शनिक इसे असंगत मानते हैं। क्योंकि पदार्थों के स्वाभाविक धर्मों का अभ्यास के द्वारा पूर्ण विकास होता है, सहकारी धर्मों का नहीं। जल का स्वाभाविक धर्म शीतलता है। इसकी चरम परिणति बर्फ में हो सकती है, पर अग्नि में नहीं। क्योंकि उष्णता उसका आगंतुक धर्म है। इसी प्रकार स्वर्ण को तपाने से शुद्धि आती है, क्योंकि विशुद्धि उसका स्वाभाविक धर्म है। अतः दोष और आवरणों की हानि होने से व्यक्ति अतींद्रिय ज्ञान प्राप्त कर सकता है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक धर्म है। इसलिए बिना इंद्रियादि के भी आत्मा ज्ञान कर सकता है। स्वयमेव, स्व-पर प्रकाशता लक्षण वाला ज्ञान आत्मा का स्वभाव ही है और स्वभाव चूंकि पर से अनपेक्ष होता है, इसलिए इंद्रियों के बिना भी आत्मा को ज्ञान होता है।[7]

न्याय-वैशेषिक मत

नैयायिक श्रीधर अतींद्रिय ज्ञान के लिए निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(1) पूर्व से सर्वथा अज्ञात विद्या एवं शिल्पादि का ज्ञान विशेष अभ्यास द्वारा होता है। उसी प्रकार विशेष प्रकार के अभ्यास से योगियों को आकाश, आत्मा आदि अतींद्रिय विषयों का प्रत्यक्ष होता है। स्पष्टतः इन विषयों का प्रत्यक्ष इंद्रियों द्वारा तो संभव नहीं है।

(2) जैसे परिमाण के आधिक्य का विश्राम आकाश में और परिमाण की न्यूनता का विश्राम परमाणुओं में होता है, उसी प्रकार बुद्धि की विशदता का भी कहीं विश्राम अवश्य होगा।[8]

जयंत भट्ट के तर्क

श्वेतता और अन्य गुणों के कई स्तर हैं। उसी प्रकार बुद्धि के अपने निरतिशय सर्वोच्च स्तर पर अभ्यास द्वारा योगी पहुंच सकता है। हम केवल निकटस्थ पदार्थों को प्रकाश आदि की सहायता से देखते हैं। बिल्ली घने अंधकार में भी पदार्थों को देख सकती है। गिद्ध अपने शिकार को बहुत दूर से देख सकता है। तब हम तर्कतः यह क्यों नहीं स्वीकार करेंगे कि निरंतर सघन ध्यानाभ्यास से योगी सूक्ष्म, छुपे हुए, दूरस्थ, भूत-भविष्य के आदि सभी पदार्थों का अतींद्रिय प्रत्यक्ष कर सकता है।[9]

श्रीधर एवं जयंत भट्ट यह कहते हैं कि मीमांसकों के आक्षेप अतींद्रिय प्रत्यक्ष पर लागू नहीं होते। जिस धर्म का कोई स्थिर आश्रय है, वही अपने आश्रय में वैशिष्ट्य का संपादन कर सकता है और उसी का अभ्यास क्रमशः चरम सीमा तक हो सकता है। जैसे स्वर्ण में पुटपाक से आने वाली शुद्धता धीरे-धीरे उसके सर्वोच्च स्तर-पूर्ण रक्तवर्ण होने तक पहुंच जाती है। दूसरी तरफ जल की गर्मी का कोई स्थिर आश्रय नहीं है, जहां किया गया अभ्यास उसे चरम सीमा तक ले जाए। क्योंकि अत्यंत ताप के बाद तो जल का नाश ही हो जाता है। इसी तरह कूदने के अभ्यास में भी सामर्थ्य नहीं है, जो कूदने वाले में कूदने पर विशेष क्षमता को उत्पन्न कर सके। क्योंकि एक बार कूदने की क्रिया पूर्ण संपन्न हो जाने पर ही दूसरी और अन्य कूद की उत्पत्ति दूसरे बल और प्रयत्न से होती है। तीन-चार बार कूदने के अभ्यास के बाद तो कूदने वाले की थकान के कारण आगे का कूदना कुछ कम हो ही जाता है। जबकि बुद्धि का आश्रय तो स्थिर है। अतः अभ्यास के द्वारा अपने आश्रय में वह विशेष का आधान कर सकती है। फलतः योगजनित धर्म के अनुग्रह से विशेष शक्तिशाली बुद्धि के प्रकर्ष की अत्यंत उत्कृष्ट परिणति होने में कोई बाधा नहीं है।[10]

सांख्य मत

सांख्य दर्शनानुसार सत्त्व, रज और तम—इन तीनों में से किसी भी गुण का सर्वथा नाश या उत्पत्ति नहीं होती। अतः सब वस्तुएं सब कालों में विकसित या लीन दशा में विद्यमान रहती है। उनका न तो पूर्ण नाश होता है और न ही किसी वस्तु का नवीन सर्जन। यद्यपि यह शंका की जाती है कि पदार्थ का नाश स्वाभाविक है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि श्वेत वस्तु की श्वेतता किसी अन्य रंग के लगने से नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार बीज की स्वाभाविक अंकुर जननशक्ति अग्नि आदि के संयोग से

पूर्णतः नष्ट हो जाती है। विज्ञानभिक्षु का मानना है कि इनमें शक्ति का उद्भव और तिरोभाव होता है, न कि स्वाभाविक धर्मों का नाश।[11] वस्तु के विभिन्न गुण शक्ति के विभिन्न रूप हैं जो मूलगुणों तमस, रजस और सत्त्व के विभिन्न विकासों में कार्यकारी हैं। भौतिकी के शक्ति संरक्षण सिद्धांत के अनुसार शक्ति पूर्ण रूप से कभी नष्ट नहीं होती। वह कभी गतिज तो कभी स्थितिज तो कभी अव्यक्त अवस्था में रहती है।[12] योगियों का मन समाधि द्वारा भूत तथा भविष्य के प्रमेय पदार्थों के संपर्क में आ सकता है। क्योंकि पदार्थ में वर्तमान अन-अस्तित्व में नहीं है, वरन् वर्तमान में भी अंतर्लीन अवस्था में विद्यमान है।[13] स्पष्टतः ऐसे संपर्क में इंद्रियों की कोई भूमिका नहीं होती।

कुछ पश्चिमी विचार

यद्यपि परामनोविज्ञान की यह धारणा है कि अतींद्रिय ज्ञान में कोई विशेष शक्ति कार्य करती है जो इंद्रिय-निरपेक्ष रूप से विषयों तक संचरण करने में सक्षम है। स्पिनोजा के अनुसार ये क्षमताएं असाधारण तो हैं, पर अलौकिक नहीं। बर्गसां के अनुसार भी अतींद्रिय ज्ञान सामान्य इंद्रिय-प्रत्यक्ष ही है, कोई अतिसामान्य बोध नहीं। टाइरिल के अनुसार मात्र इंद्रियों से ही मानव-व्यक्तित्व की समग्रता को ग्रहण करना संभव नहीं, उसका बड़ा अंश इंद्रियातीत रहता है। उनके अनुसार अधिचेतना की क्रिया सार-निरपेक्ष होती है तथा इसमें किसी प्रकार के भौतिक कार्य-कारण को खोजना उचित नहीं है।

राईन अतींद्रिय ज्ञान में इंद्रियों की भूमिका को नहीं मानते, जैसा कि उन्होंने दिव्य दृष्टि की परिभाषा में कहा है—किसी व्यक्ति की मानसिक अवस्था या विचारों से भिन्न किसी वस्तु अथवा वस्तुपरक घटनाओं के इंद्रिय-निरपेक्ष बोध को दिव्य दृष्टि कहते हैं।[14]

अतः स्पष्टतः बिना इंद्रियों के भी ज्ञान संभव है। पर यह निश्चित है कि इस प्रकार के ज्ञान में भी इंद्रिय और मन का विकसित होना सदैव अपेक्षित है। जिन प्राणियों में पांचों इंद्रियां और मन विकसित नहीं होते, उन प्राणियों में अतींद्रिय ज्ञान की कल्पना भारतीय दर्शनों में सामान्यतः नहीं मिलती। अतींद्रिय प्रत्यक्ष साक्षात होता है, उसमें कोई भी इंद्रिय माध्यम नहीं बनती। ये एक तरह से आत्मा के विकास की अवस्थाएं हैं। ज्यों-ज्यों साधक का आत्म-विकास होता जाता है त्यों-त्यों इस तरह का साक्षात ज्ञान भी उपलब्ध होता जाता है। ❖

संदर्भ :

1. षडदर्शन समुच्चय, कारिका 67, 68
2. तत्त्वसंग्रह, पृ. 862
3. सर्वदर्शन संग्रह, पृ. 548-49
4. तत्त्वसंग्रह पंजिका, पृ. 1078
5. स्याद्वाद मंजरी, 17 टीका
6. प्रमाण मीमांसा, 1-16
7. प्रवचन सार (तत्त्व प्रकाश), 19
8. न्याय कंदली, पृ. 467
9. न्याय मंजरी, पृ. 95-96
10. न्याय कंदली, पृ. 467-68, न्याय तात्पर्य दीपिका, पृ. 82, न्याय मंजरी, पृ. 96
11. सांख्य प्रवचन भाष्य, पृ. 15
12. पोजिटिव साइंसेस ऑफ द ऐंशियंट हिन्दूज, पृ. 17
13. सांख्य प्रवचन भाष्य, 1-90
14. रायन एवं प्रैट : परामनोविज्ञान, पृ. 13

❖❖

नए जमाने की बुराइयों को दूर करने के लिए आमतौर पर धार्मिक शिक्षा का ही उपाय बतलाया जाता है। पाश्चात्य देशों में लोगों का विश्वास विज्ञान पर से और इसीलिए इस उन्नति पर से भी उठ चला है, क्योंकि विज्ञान का दुरुपयोग हो रहा है और कुपथ में उसकी प्रवृत्ति है। उन देशों में आजकल धर्म और गुप्त विद्या की ओर लोगों की रुचि फिर से हो रही है। लोग कोई ऐसी चीज चाहते हैं जिस पर वे अपना विश्वास टिका सकें, पर पुराने धर्म–संप्रदायों से उन्हें संतोष नहीं होता। वे कोई नया धर्म, नया इलहाम ढूंढ़ रहे हैं, पर यह धर्म या इलहाम उन्हें मिले, इससे पहले वे निराशावादी तत्त्वज्ञानों से घिर रहे हैं। कुछ जीवन की कठिन वस्तुस्थितियों से भागकर गुप्त विद्या और पुराने धार्मिक विश्वासों का आश्रय ढूंढ़ते हैं, कुछ जीवन को दुखमय देख निराश होकर बैठ जाते हैं। किसी में वह जीवन–विश्वास नहीं रह गया जिसकी जीवन के लिए सबसे अधिक आवश्यकता है। मनुष्य केवल तर्क से नहीं जी सकता; उसे धारण करने और प्रेरणा पाने के लिए विश्वास की आवश्यकता होती है। पर यह विश्वास धर्म–निरपेक्ष होना चाहिए और उससे भविष्य के लिए आध्यात्मिक आश्वासन मिलना चाहिए।

—आचार्य नरेन्द्रदेव

जीवन के समरांगण में हमें वीरता से आगे बढ़ना चाहिए तथा हर परिस्थिति में सहजता और प्रसन्नता से जीने का अभ्यास करना चाहिए। प्रसन्नता विश्व का सर्वश्रेष्ठ रसायन है। जो इसका निरंतर सेवन करता है, उसमें रोग-प्रतिरोधक शक्ति का स्वतः विकास होता है। रोग से भी अधिक रोग की चिंता से व्यक्ति रोगी और दुर्बल बनते हैं। अतः जब-जब भी शरीर पर रोग का आक्रमण हो, तब-तब हमें विचारों की स्वस्थता और संतुलन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। कहा है—'जब-जब रोग आक्रमण करता, मन निरोग हमारा हो'। आज 'फेथ हीलिंग'—आस्था और भावना से चिकित्सा का विकास हो रहा है। हम इसे आध्यात्मिक चिकित्सा का एक रूप भी कह सकते हैं। ऊपरी चिकित्सा का उपयोग करते हुए हमें आध्यात्मिक चिकित्सा का प्रयोग भी करना चाहिए।

स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति

मुनि राकेशकुमार

तन और मन के बीच गहरा संबंध है और दोनों की स्वस्थता भी परस्पर सापेक्ष है। शारीरिक स्थितियों और घटनाओं से मन प्रभावित होता है। कहा जाता है कि स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निवास होता है, पर यह अधूरा सत्य है। हमें इसके साथ यह जोड़ना चाहिए कि 'स्वस्थ मन से स्वस्थ शरीर का निर्माण होता है।' एक संस्कृत श्लोक में इसी सत्य को स्पष्ट किया गया है—

शरीरज्जायते व्याधिः, मानसो नैव संशयः,
मानसाज्जायते व्याधि, शारीरो नैव संशय।

आज चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में विलक्षण विकास हुआ है। उसकी सफलताओं और उपलब्धियों पर सभी गर्व करते देखे जा सकते हैं। इतना सब होते हुए भी मानसिक विचारों और भावनाओं में शांति और संतुलन का जब तक विकास नहीं होगा तब तक स्वास्थ्य की समस्या का समाधान हुआ नहीं माना जा सकता।

शरीर से मनोरोग व मन से शारीरिक रोगों की उत्पत्ति होती है। धातुओं से बना हुआ शरीर चित्त के अधीन है। चित्त के दुर्बल और क्षीण होने पर धातुएं भी दुर्बल और क्षीण हो जाती हैं। इसलिए चित्त की सुरक्षा होनी जरूरी है। जिसका चित्त स्वस्थ है उसके जीवन में नव-स्फुरणा हो सकती है। जैन आगम स्थानांग सूत्र में रोगोत्पत्ति के नौ कारण व अकाल मृत्यु के सात कारण बताए गए हैं। उनमें अशुद्ध और तनावग्रस्त मनोभावों का प्रमुख रूप से उल्लेख है। विचारों और भावनाओं से शारीरिक स्वास्थ्य बहुत अधिक प्रभावित होता है, यह माना गया है। कहा है—

चिंतायतं धातुबद्धं शरीरं, चित्ते नष्टे धातवो यान्ति नाशम्,
तस्माच्चितं सर्वदा रक्षणीयं, स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति।

जो मनुष्य अपने में अथवा अपनी शुद्ध प्रकृति में स्थित होता है, वह स्वस्थ होता है। स्वस्थ वह है जो शरीर से ही नहीं, विचारों से भी स्वस्थ है। सुश्रुत और चरक संहिता में 'स्वस्थ' और 'निरोग' की जो परिभाषा बताई गई है, उससे इस बात की पुष्टि होती है। कहा है—

समदोषः समाग्निश्च, समधातुमलकियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः, स्वस्थ इत्यभिधीयते।।

जिसके दोष—वात, पित्त, कफ, अग्नि, पाचन शक्ति, रक्त, मज्जा, मांस आदि धातुएं तथा मल-

विसर्जन आदि की क्रियाएं सम हैं और जिसकी आत्मा, इंद्रियां व मन प्रसन्न हैं—वह स्वस्थ होता है।

नित्यं मिताहार-विहारसेवी, समीक्ष्यकारीविषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावाना-प्लोपसेवी स भवत्यरोगः।।

जो आहार-विहार में सदा मर्यादा और संयम का पालन करता है, जो विवेक-परायण है व विषयों में अनासक्त है, जो दाता, सत्यनिष्ठ, क्षमावान है व आप्त पुरुषों का सान्निध्य प्राप्त करता है—वह निरोग होता है।

चिता चिंता समा प्रोक्ता, को भेदश्चिताचिंतयोः।
चिता दहति निर्जीवं, चिंता सजीवमप्यहो।।

चिंता, ईर्ष्या, भय, क्रोध आदि भावावेश स्वास्थ्य के लिए बहुत हानिकारक होते हैं। संस्कृत कवियों ने भी चिंता को चिता के समान बताते हुए कहा है कि चिंता और चिता, इन दोनों में कोई विशेष अंतर नहीं है। चिता निर्जीव को जलाती है, पर चिंता जीवित व्यक्तियों को भी भस्म बना देती है।

जीवन के समरांगण में हमें वीरता से आगे बढ़ना चाहिए तथा हर परिस्थिति में सहजता और प्रसन्नता से जीने का अभ्यास करना चाहिए। प्रसन्नता विश्व का सर्वश्रेष्ठ रसायन है। जो इसका निरंतर सेवन करता है, उसमें रोग-प्रतिरोधक शक्ति का स्वतः विकास होता है। रोग से भी अधिक रोग की चिंता से व्यक्ति रोगी और दुर्बल बनते हैं। अतः जब-जब भी शरीर पर रोग का आक्रमण हो, तब-तब हमें विचारों की स्वस्थता और संतुलन पर विशेष ध्यान देना चाहिए। कहा है—'जब-जब रोग आक्रमण करता, मन निरोग हमारा हो'।

आज 'फेथ हीलिंग'—आस्था और भावना से चिकित्सा का विकास हो रहा है। हम इसे आध्यात्मिक चिकित्सा का एक रूप भी कह सकते हैं। ऊपरी चिकित्सा का उपयोग करते हुए हमें आध्यात्मिक चिकित्सा का प्रयोग भी करना चाहिए। जैन परंपरा में अनाथी मुनि आदि के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर 'आस्था और भावना से चिकित्सा' की विधि का विकास हो सकता है।

शरीरशास्त्रियों व मानसशास्त्रियों ने शरीर पर चिंता और तनाव के कुप्रभावों को लेकर काफी लिखा है और यह माना है कि शरीर की अनेक विकृतियों व व्याधियों के साथ चिंता व अशांति का गहरा संबंध है।

वर्तमान सभ्यता ने मानव-समाज को मानसिक तनाव और चिंता का जो अभिशाप दिया है, उस पर विजय पाए बिना स्वास्थ्य की रक्षा संभव नहीं है।

भय की भावना से स्वास्थ्य बहुत प्रभावित होता है। उसके प्रभाव से अनेक व्यक्ति विक्षिप्त और पागल बन जाते हैं और अकाल मृत्यु के शिकार तक हो जाते हैं। इंग्लैंड की लोककथा में बताया गया है—एक बार 'प्लेग' की बीमारी किसी मनुष्य को मार्ग में मिली। पूछने पर 'प्लेग' ने कहा—'मैं पांच हजार व्यक्तियों को मारने जा रही हूं।' लौटते समय जब पुनः मिलना हुआ तो उस भाई ने पूछा—'प्लेग! तुमने पांच हजार लोगों को मारने की बात कही थी, फिर पंद्रह हजार कैसे मारे?' उसने कहा—'मैंने तो पांच हजार ही मारे हैं। अन्य दस हजार तो भयभीत होकर स्वतः मृत्यु के ग्रास बने हैं।'

चिंता और भय की तरह क्रोध भी स्वास्थ्य का शत्रु है। दो दिन के ज्वर से जितनी शक्ति नष्ट होती है, तीव्र क्रोध के दो क्षणों में उतनी शक्ति नष्ट हो जाती है। क्रोध से रक्तचाप की वृद्धि के साथ हृदयरोग का खतरा भी होता है तथा शरीर में एक विशेष प्रकार का घातक विषैला पदार्थ भी उत्पन्न हो जाता है।

एक घटना है—मां ने बच्चे को दूध पिलाया। थोड़ी देर में बच्चे का शरीर नीला पड़ कर उसकी मृत्यु हो गई। जब घटनाक्रम का गहरा अध्ययन किया गया तब पता चला कि बच्चे ने जब स्तनपान किया था, तब उसकी मां के मन में अपनी सास के प्रति क्रोध की भयानक आग जल रही थी। इससे दूध में हलका जहर पैदा हो गया। बच्चा उसे सहन नहीं कर सका और वह मृत्यु का शिकार हो गया।

मां का जो दूध नव-जीवन प्रदान करता है, वही शिशु के अकाल मरण का कारण बन गया।

तृष्णा, असंतोष और फलाकांक्षा से भी नाना-प्रकार की व्याधियां और समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। जो फलाकांक्षा से मुक्त होकर निरंतर कर्तव्यपरायण रहता है, वह स्वस्थ और तेजस्वी जीवन जी सकता है। भारतीय दार्शनिकों ने कहा है कि मनुष्य का अधिकार कर्तव्यपालन तक सीमित है। फल का आग्रह उचित नहीं है। इसलिए लाभ-अलाभ, सुख-दुख व इष्ट-अनिष्ट को हमें समभाव से स्वीकार करना चाहिए। फलाकांक्षा मानसिक तनाव और विषमता का मुख्य हेतु है।

पथ्य, मौन और प्रसन्नता—ये तीन महान चिकित्सक माने गए हैं। जो इन्हें अपने जीवन में सम्मान देता है, उसके स्वास्थ्य की रक्षा स्वतः हो जाती है। आज हर घर में सोफासेट, टी-सेट, डायमंड-सेट, डिनर-सेट, टी.वी.-सेट, आदि नाना-प्रकार के 'सेट' मिलते हैं, पर यदि दिमाग 'सेट' नहीं है, सब-कुछ 'अपसेट' हो सकता है। सारा जीवन अस्त-व्यस्त और असुरक्षित बन सकता है।

प्लेटो का कथन है कि जिस चिकित्सा प्रणाली में मस्तिष्क के सुधार और इलाज की तरफ ध्यान नहीं दिया जाता—वह अपूर्ण है। अस्पतालों में मानसिक व स्नायविक रोगों तथा उनसे संबंधित अन्य रोगों से आक्रांत लोगों की भरमार है। यदि विचारों और भावनाओं में शांति और संतुलन का विकास हो तो अस्पतालों की भीड़ बहुत कम हो सकती है।

आज मानसिक चिकित्सा के लिए प्रार्थना, ध्यान, स्वाध्याय व मंत्र-जाप आदि चिकित्सा के ही परिष्कृत रूप हैं। इनसे मानसिक व शारीरिक रोगों की सहज चिकित्सा हो सकती है।

'जैसा बोते हैं, वैसा पाते हैं'—इस कहावत को हम—'जैसा सोचते हैं, वैसा बनते हैं'—रूप भी दे सकते हैं। चेहरा विचारों का दर्पण है, यह सभी जानते हैं। विचारों और भावनाओं से चेहरा ही नहीं, शरीर का हर अवयव प्रभावित होता है। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के विचार-प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों-कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित-प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ-साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ-सुथरी, बिना काट-छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

समसामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक-आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल-मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी-कविता
भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र-व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार
पहले से ही अपने पास रखें

राजा की आज्ञा से उस आदमी को उसके बिस्तर से उठवा कर कुएं पर बुलवाया गया और आदेश दिया गया कि वह कपड़े उतार कर खुले में नहाए और उसके बाद मूलियां खाए। राजा ने आश्चर्य से देखा कि इस बार नहाते समय वह आदमी ठंड से कांप रहा था और उसके दांत किटकिटा रहे थे। नहाने के बाद मूली खाते ही उसको छींकें आने लगीं और उसकी आंखों व नाक से पानी बहने लगा। कपड़े पहन, राजमहल में अपने कमरे में जाते ही उस आदमी को ज्वर आ गया और जब दस बड़े राजवैद्य उसे देख राजदरबार में पहुंचे तो उन्होंने राजा से यही निवेदन किया कि उसे बुरी तरह ठंड लग गई है।

मंत्री-पुत्र की समझदारी

सत्येंद्र शरत्

बालकथा

एक नगर में एक राजा था। वह अपनी प्रजा के सुख-दुख का बड़ा ध्यान रखता था। उसका मंत्री भी बहुत समझदार और अनुभवी था। इसीलिए राजा अपने मंत्री का बड़ा आदर करता था। राज-काज के हर मामले में राजा मंत्री से सलाह लिया करता था और मंत्री की राय के अनुसार ही काम किया करता था।

एक बार राजा शिकार खेलने गया। साथ में मंत्री तथा अन्य सेवक भी थे। शाम होने पर जंगल में ही डेरे डाल दिए गए। राजा का प्रबंध अलग शिविर में था। बाकी लोगों ने दूसरे शिविरों में रात बिताई।

जाड़ों के दिन थे। आग और गरम वस्त्रों की व्यवस्था होने पर भी ठंड के कारण राजा की आंख बहुत सुबह खुल गई। उस समय चारों ओर काफी अंधेरा और कोहरा था। बाहर किसी के गाने की आवाज सुन राजा ने तंबू की खिड़की की जाली हटा कर आश्चर्य से देखा कि सामने वाले कुएं पर एक आदमी केवल धोती पहने हुए कुएं से पानी निकाल कर मजे में नहा रहा था। काफी देर तक नहाने के बाद उसने अपनी धोती बदली और तब अपने साथ लाई दो हरी मूलियां 'कच्-कच्' कर खाने लगा। नाश्ता खतम करने के बाद उस आदमी ने कलश में पानी भरा और गाना गाता हुआ वहां से चला गया। राजा को जैसे अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हुआ, क्योंकि गर्म कपड़ों में लिपटे होने पर भी, राजा की ठंड के कारण कंपकंपी छूट रही थी।

सुबह होने पर राजा ने मंत्री को भी यह घटना सुनाई। मंत्री को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने कहा—'महाराज, यदि सचमुच किसी आदमी ने ऐसा किया है तो अब तक वह आदमी या तो ठंड लग कर मर गया होगा या ज्वर से ग्रस्त होगा। इतनी ठंड में, सुबह खुले में देर तक नहाने और उसके बाद मूली खाने पर कोई भी आदमी स्वस्थ नहीं रह सकता।'

राजा ने मुस्करा कर कहा—'मंत्री, इस पर भी वह आदमी अगर इस समय स्वस्थ हुआ तो तुम क्या करोगे?'

मंत्री ने गंभीरता के साथ कहा—'महाराज, अगर वह आदमी है तो ऐसा करने पर वह स्वस्थ नहीं रह सकता। वह जरूर बीमार पड़ जाएगा। अगर वह आदमी इस समय स्वस्थ मिल जाए तो मैं अपनी गर्दन कटवा सकता हूं। हां, अगर वह आदमी ही न हो, तब बात अलग है।'

राजा ने फिर मुस्करा कर कहा—'मंत्री, मुझे लगता है कि तुम्हारी बात गलत है, क्योंकि मैंने अपनी आंखों से देखा है। वह हमारी-तुम्हारी तरह का ही आदमी है।'

मंत्री गंभीर हो गया। उसने कहा—'महाराज, अगर मेरी बात गलत निकले तो मेरा सिर कटवा दीजिएगा।'

राजा भी गंभीर हो गया। बोला—'अपनी बात याद रखना मंत्री।'

मंत्री बोला—'जी हां महाराज। याद रखूंगा।'

राजा ने उसी समय अपने सेवकों को निकट के गांव में भेजा और उस आदमी के बारे में पूरी जानकारी लाने का आदेश दिया। कुछ घंटों के अंदर ही राजा के सेवक उस आदमी को ढूंढ़-ढांढ़ कर राजा के पास ले आए। उस समय मंत्री भी वहीं उपस्थित था। राजा और मंत्री, दोनों ने आश्चर्य से देखा, वह आदमी बिल्कुल स्वस्थ था। उसको जुकाम तक न था, बुखार तो बहुत दूर की बात थी।

मंत्री की बात गलत सिद्ध होती देख राजा ने मंत्री को एक और अवसर देने का निश्चय किया। राजा ने आदेश दिया—'आज यह आदमी रात को यहां शिविर में रहेगा। कल सुबह उठ कर इसे ठंड और खुले में उसी तरह फिर नहाना होगा और नहाने के बाद फिर उसी तरह दो मूलियां खानी होंगी। अगर कल भी इस आदमी को कुछ न हुआ और यह स्वस्थ ही रहा तो मंत्री की बात गलत सिद्ध होने के कारण उसके वचन के अनुसार मंत्री का सिर कटवा दिया जाएगा।'

राजा के आदेश का पालन किया गया। दूसरे दिन सुबह, चार बजे उस आदमी को कुएं पर पहले दिन की ही तरह पानी भर-भर कर नहाना पड़ा। नहाने के बाद उसने मूलियां भी खाईं और नंगे बदन, गीली धोती में ही शिविर में लौट आया। उसकी तबीयत बिल्कुल ठीक थी।

इस बार भी मंत्री की बात गलत सिद्ध होते देख कर राजा को क्रोध आ गया और उसने आज्ञा दी कि मंत्री का सिर काट दिया जाए। मृत्यु से पहले मंत्री ने प्रार्थना की कि एक बार फिर उसकी बात सुन ली जाए, मगर क्रोध में राजा ने कुछ न सुना और मंत्री का सिर कटवा दिया। उसी शाम को शिकार खतम कर राजा राजमहल लौट आए।

मंत्री का बारह वर्ष का एक लड़का था। अपने पिता की ही तरह वह बहुत समझदार था। उसे अपने पिता की अकारण मृत्यु का जब समाचार मिला तो क्रोध और शोक से उसकी आंखों में आंसू भर आए। वह उसी समय राजा के दरबार में पहुंचा और भरी सभा में उसने हाथ जोड़ विनीत भाव से राजा से निवेदन किया—'महाराज, आपने मेरे निर्दोष पिता का वध करवाया है। आपके लिए उचित था कि मेरे पिता को मृत्यु-दंड देने से पहले आप उनके साथ न्याय करते। यदि मेरे पिता की बात गलत निकलती तब उनका सिर कटवाते।'

राजा ने मंत्री-पुत्र से कहा—'बालक, तुम्हारे पिता की बात गलत निकली थी। एक दिन नहीं, दो दिन—इसलिए उनका सिर कटवाया गया।'

मंत्री के लड़के ने हाथ जोड़ कर कहा—'महाराज, आप मुझे यह कहने के लिए क्षमा करें कि आप मेरे पिता की बात ठीक तरह नहीं समझ सके। मेरे पिता सीधे-सरल आदमी थे। वे अपनी बात ठीक तरह समझा नहीं सके और अपने सीधेपन के कारण अपने जीवन से हाथ धो बैठे। उन्होंने जो-कुछ आप से कहा था, वह बिल्कुल ठीक था। आप मुझे अवसर दें, मैं एक महीने के अंदर ही आप को और सारी राज्यसभा को दिखला दूंगा कि मेरे पिता की बात बिल्कुल सही थी।'

मंत्री के बेटे के आत्मविश्वास को देख राजा ने कौतूहल के साथ उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और अपने समस्त सेवकों को आदेश दिया कि मंत्री का बेटा महीना-सवा महीना जो भी आदेश दे उसका तत्काल पालन किया जाए। इस अवधि में मंत्री के बेटे की राजमहल में रहने की व्यवस्था भी हो गई।

मंत्री के बेटे ने पहला आदेश दिया कि उसी आदमी को गांव से बुलवाया जाए और उसे मेरे साथ ही महीना-भर राजमहल में रखा जाए। दूसरे ही दिन घुड़सवार गांव से उस आदमी को ले आए।

मंत्री के बेटे ने देखा, उस आदमी के पास पहनने के लिए कपड़े नहीं थे। उसने तत्काल आज्ञा दी कि इस आदमी के लिए गर्म कपड़ों, जूतों और मोजों व दस्तानों का प्रबंध किया जाए। उसके कहने-भर की देर थी, थोड़ी ही देर में सब चीजों का प्रबंध हो गया। यहां तक कि उसके सोने के लिए भी एक बढ़िया पलंग और नर्म, गर्म व गुदगुदे बिस्तर की व्यवस्था हो गई।

गांव के उस आदमी को शुरू में तो ये सब चीजें बड़ी अटपटी लगीं और उसे थोड़ी-बहुत उलझन भी हुई, मगर धीरे-धीरे उसे बड़ा आराम और सुख मिलने लगा। उसे अपने हाथ से कोई भी काम नहीं करना पड़ता था। दो नौकर सदैव उसकी सेवा के लिए तत्पर रहते थे। वह भी धीरे-धीरे उस राजसी वैभव और उस राजसी भोजन में आनंद पाने लगा। दिन-भर अच्छे वस्त्र पहनने, अच्छे भोजन करने और घूमने के अलावा उसे कुछ करना भी तो नहीं पड़ता था। शाम को वह घूमने निकलता तो उसे जरा भी पैदल न चलना पड़ता। शाही बग्घी में वह बाहर जाता और उसी में महल लौट आता। महीने-भर के अंदर ही वह राजसी सुख-सुविधाओं का आदी हो गया। अब भोजन समाप्त करने के बाद उसे हाथ-मुंह धोने तक के लिए गर्म पानी की आवश्यकता महसूस होने लगी थी।

महीना खतम होते ही मंत्री-पुत्र ने राज-दरबार में जाकर राजा से निवेदन किया—'महाराज, महीना-भर पहले मैंने आपसे कहा था कि मैं अपने स्वर्गवासी पिता की बात को सही सिद्ध कर दिखलाऊंगा। अब समय आ गया है कि आप यह जांच कर लें कि मेरे पिता की बात सही थी या नहीं। उस आदमी को मैंने गांव से बुलवा रखा है। वह यहीं राजमहल में ही है। आपसे प्रार्थना है कि आप कल सुबह उसे खुले में ठंडे पानी से स्नान कर मूलियां खाने का आदेश दें और देखें कि अब उस पर इस सबका क्या असर होता है?'

महाराज ने सिर हिलाते हुए कहा—'हां मंत्री-पुत्र, हम जरूर देखेंगे कि उस आदमी पर ठंड में नहाने और मूलियां खाने का क्या असर होता है। कल सुबह चार बजे हम राजमहल के कुएं पर मौजूद होंगे।'

दूसरे दिन सुबह चार बजे राजा, सभा के कुछ लोग और मंत्री-पुत्र राजमहल के कुएं पर उपस्थित हो गए। राजा की आज्ञा से उस आदमी को उसके बिस्तर से उठवा कर कुएं पर बुलवाया गया और आदेश दिया गया कि वह कपड़े उतार कर खुले में नहाए और उसके बाद मूलियां खाए। राजा ने आश्चर्य से देखा कि इस बार नहाते समय वह आदमी ठंड से कांप रहा था और उसके दांत किटकिटा रहे थे। नहाने के बाद मूली खाते ही उसको छींकें आने लगीं और उसकी आंखों व नाक से पानी बहने लगा। कपड़े पहन, राजमहल में अपने कमरे में जाते ही उस आदमी को ज्वर आ गया और जब दस बजे राजवैद्य उसे देख राजदरबार में पहुंचे तो उन्होंने राजा से यही निवेदन किया कि उसे बुरी तरह ठंड लग गई है। कई दिनों की दवाई और परिचर्या के बाद ही वह ठीक होगा। और यदि उसका ठीक तरह उपचार न किया गया तो यह भी संभव है कि शीत के प्रकोप से उसकी मृत्यु हो जाए।

राजवैद्य की बात समाप्त होते ही मंत्री-पुत्र ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया—'महाराज, अब बताइए, मेरे पिता की बात सही थी या नहीं?'

राजा आश्चर्य में डूबे हुए थे। धीमे स्वर में बोले—'हां मंत्री-पुत्र, अब तो यही लग रहा है कि तुम्हारे स्वर्गवासी पिता ने उस समय जो-कुछ कहा था, वह सही था। हमने बेकार ही उनके प्राण लिए। वह सचमुच निर्दोष थे। मगर मंत्री-पुत्र, यह हमारी समझ में नहीं आ रहा है कि एक महीना पहले तो इस आदमी को खुले में ठंडे पानी से नहाने और मूलियां खाने से कुछ नहीं हुआ और अब एक महीने के अन्दर ही यह नहाने पर एकदम बीमार कैसे हो गया?'

मंत्री-पुत्र ने सिर झुका कर कहा—'महाराज, एक महीना पहले यह आदमी था कहां, यह तो पहाड़ था पहाड़! इस एक महीने में मैंने इसे आपकी सेवा में आदमी बना कर उपस्थित किया और तब ठंड में नहाने व मूली खाने पर इसका जो अंजाम हुआ वह आपने स्वयं देख-सुन लिया है।' राजा चुपचाप मंत्री-पुत्र की बात पर विचार करने लगे।

मंत्री-पुत्र ने आगे कहा—'देखिए महाराज, मेरे अनुभवी पिता ने कहा था—अगर वह आदमी है तो ठंडे पानी से नहाने और मूलियां खाने के बाद स्वस्थ नहीं मिल सकता। मेरे पिता ने बिल्कुल ठीक कहा था। उस समय यह आदमी नहीं था, पहाड़ था—इसलिए इसे कुछ नहीं हुआ। अब यह आदमी है, इसीलिए इतनी जल्दी अस्वस्थ हो गया। महाराज, यह न भूलिए कि जीवधारी आदमी को ही ईश्वर ने महसूस करने की शक्ति दी है। जो अनुभव कर सकता है—अच्छा-बुरा, कड़वा-मीठा, गर्म-सर्द, हित-अहित, दुख-सुख, आशा-निराशा, यश-निंदा, लाभ-हानि—वही आदमी है। जो अनुभव नहीं कर सकता—जिस पर गर्मी-सर्दी, दुख-सुख, हित-अहित, यश-निंदा का असर ही नहीं होता—वह आदमी नहीं है, पाषाण है। केवल आदमी बनने पर ही उसे अनुभूति का यह गुण मिलेगा। इस संसार में आपको अनेक व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो आदमी दीखते हैं, मगर वे आदमी हैं नहीं। और, जब तक वे आदमी नहीं बनेंगे तब तक वे ईश्वर के दिए अनुभूति के इस गुण से वंचित ही रहेंगे।'

मंत्री-पुत्र की समझदारी देख राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसके पढ़ने की उचित व्यवस्था की और पढ़ाई समाप्त करते ही उसके पिता की जगह उसे अपना मंत्री बना लिया। ❖

मनुष्य का स्वर्ग में चढ़ जाना मुख्य नहीं है, बल्कि मुख्य है यहां उसका आत्मा में उन्नत हो जाना और आत्मा का उसकी सामान्य मानवता में अवतरण तथा इस सांसारिक स्वभाव का रूपांतरण भी। क्योंकि वही वह वास्तविक नया जन्म है, न कि कोई मरणोपरांत मोक्ष, जिसके लिए अपने लंबे दुरूह और कष्टकारी मार्ग के शिखर आंदोलन के रूप में मानवता प्रतीक्षा करती है।

इसलिए नए युग में वे ही व्यक्ति मानवता के भविष्य में सबसे अधिक सहायक होंगे जो एक आध्यात्मिक विकास को नियति और इसलिए मनुष्य की महान आवश्यकता मानेंगे।.... विशेषकर वे यह सोचने की भूल नहीं करेंगे कि यह परिवर्तन यंत्रावली और बाह्य संस्थाओं द्वारा लाया जा सकता है; वे यह जान जाएंगे और इसे कभी नहीं भूलेंगे कि उसे प्रत्येक व्यक्ति को अपने आंतरिक जीवन में जीना होगा अन्यथा वह मानवजाति के लिए कभी यथार्थ नहीं बनाया जा सकेगा।....

प्रत्येक महान और कठिन कार्य में पहले-पहल असफलताएं अनेक होती हैं, पर ऐसा समय आता है जब अतीत की असफलताओं का लाभप्रद उपयोग किया जा सकता है और वह द्वार जो अब तक रोके हुए था, खुल जाता है। इसमें, जैसे कि सभी महान मानवीय महत्त्वाकांक्षाओं और प्रयासों में, अनुभव से पहले ही असंभाव्यता की घोषणा कर देना अज्ञान और कमजोरी का लक्षण है और साधक के उद्यम की आदर्शोक्ति होनी चाहिए 'आपकी कठिनाई इसके चलने से हल हो जाएगी' जो अन्वेषक ने की थीं। क्योंकि करने से कठिनाई हल हो जाएगी। सही शुरुआत करनी होगी; बाकी काम समय के लिए है, एकाएक उपलब्धियां करा देने में अथवा लंबे समय तक धैर्यपूर्वक श्रम कराने में।....

यह उद्यम व्यक्ति के लिए भी परम और कठिन श्रम का होगा, पर जाति के लिए तो और भी अधिक। यह बहुत संभव है कि प्रथम निश्चित पड़ाव तक भी वह जल्दी आगे न बढ़ पाए; हो सकता है कि किसी तरह के स्थाई जन्म तक पहुंचने में प्रयास की लंबी सदियां लग जाएं। किंतु वह बिल्कुल अनिवार्य नहीं है, क्योंकि प्रकृति में इस प्रकार के परिवर्तनों का सिद्धांत यह प्रतीत होता है कि एक लंबी अस्पष्ट तैयारी, फिर तत्त्वों का एकत्र होकर और हड़बड़ा कर नए जन्म में अवतरण, एक त्वरित रूपांतरण, एक परिवर्तन जो अपने उज्ज्वल क्षण में चमत्कार जैसा लगता है।

—श्री अरविंद

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1
के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

With best compliments from :

HTC TRADING PVT. LTD.

16, Bonfields Lane, KOLKATA 700001

Phones : 242-6141/9857/9426/9923

Fax : 91-33-2422004

e-mail : sirohia@mail.com

Wholesale Distributors & Dealers in

All Types of Tea Garden Stores, Spares, Agrochemicals, Growth Promoters, Jute-Zipper Bags, Coates-Rhino Stencil Ink Cutter Chaser, Nettlon Mesh, G-I Goat Proof Fencing, HM-HDPE Sleeves, Iron Materials, Neemcake, Cement, Coal.

1. Pesticides, Insecticides, Weedicides, Fungicides.
2. Micro Nutrients, Growth Promoters, Bio-Nutrients, Fertilizers.
3. Jute Canvas Bags, Zipper Bags, Poly Pouches.
4. H.M. Liners, Polythene Sleeves, Nursery Shades.
5. Welded Mesh, Wire Mesh, Nettlon, Structural Materials.
6. Ball & Roller Bearings, CTC Segments, CTC Cutters & Chasers, V-Belts, Weighing Scale.
7. Power Operated Bolo & Hand Operated Backpack Napsack Sprayers & Spares Parts.
8. Nylon Leaf Carrying Bags, Coir Leaf Bags & Plastic Basket.

For Your Requirements of Spare Parts for

1. Dryer, Heaters, Sorting Machines, Rolling Table, CTC Machines, Rotorvane, Miracle Grinder, Fluid Bed Dryers, ECP, Super ECP, Quality, Empire, Paragon Venetion.
2. C.I. Stove Tubes (Tested) Economiser Tube & Fire Bar.

Authorised Distributors & Dealers in Pesticides & Fertilizers of :

- ANKAR
- AVENTIS
- BASF
- BAYER
- CHEMINOVA
- DE-NOCIL
- EXCEL
- FCI
- GODREJ AGROVE T
- HFC
- INDOFIL
- INDIAN POTASH
- NORTHERN
- RALLIS
- SPIC
- SHAW WALLACE
- SUVOCHEM
- SYNGENTA
- T STANES
- UPL
- WOCKHARDT

प्रेषण दिनांक 28 जनवरी, 07

जैन भारती, फरवरी, 2007 भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/06-08

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।